भक्तिकाव्य की स्त्री विषयक चेतना का समाजशास्त्रीय अध्ययन

प्रस्तुतकर्ता — चन्द्रभान सिंह यादव

निर्देशक - सूर्य नारायण
(प्रवक्ता, हिन्दी)

प्रो० राजेन्द्र कुमार
अध्यक्ष- हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
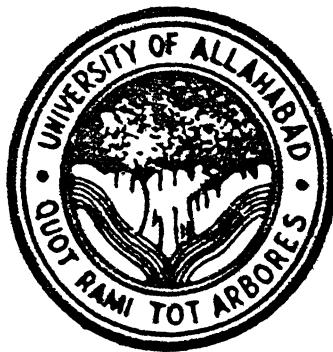
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2003

Department of Hindi
University of Allahabad
ALLAHABAD—211002

Dated - 30-06-03

मैं प्रमाणित करता हूँ कि श्री चंद्रभान सिंह यादव ने मेरे शोध-निर्देशन में 'भक्तिकाव्य की स्त्री विषयक-चेतना का समाजशास्त्रीय अध्ययन' विषय पर अत्यंत लगन और परिश्रम से शोध कार्य किया है। वे लगातार मेरे संपर्क में बने रहे तथा विषय पर गंभीर-चर्चा करते रहे। उनका कार्य मौलिक है और मैं उनके शोध कार्य से संतुष्ट हूँ।

मैं उनके शोध-प्रबंध को मूल्यांकन हेतु जमा करने की स्वीकृति सहमति/संस्तुति प्रदान करता हूँ।

[signature]

(सूर्य नारायण)
प्रवक्ता, हिंदी विभाग
इला० वि० वि०

भूमिका

साहित्य मानव चेतना का विकास और परिष्कार करता है। प्रत्येक देश का साहित्य उसकी परम्परा और परिवेश से अप्रभावित नहीं रह सकता। हिन्दी साहित्य के स्वर्णकाल में सर्जनात्मकता का ऐसा कालजयी स्वर है जो अपने समय से टकराता हुआ उसे अतिक्रमित करता है। रूढ़िग्रस्त अमानवीय व्यवस्था में उच्चतर मानवीय मूल्यों के स्थापना का प्रयास है। भक्तिकाव्य के कई रचनात्मक पहलू हैं - धार्मिक, सांस्कृतिक, सर्जनात्मक और सामाजिक। मुझे ही नहीं अपितु आधुनिक युग के अधिकांश विद्यार्थियों को इसका सामाजिक पहलू सर्वाधिक आकर्षक लगा। कई शताब्दियों बाद भी भक्तिकाव्य लोककंठ में वास करता है, इससे बढ़कर किसी रचना की सफलता और सार्थकता क्या हो सकती है। मध्ययुग से लेकर वर्तमान दौर तक समाज में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए फिर भी बुद्धिजीवी वर्ग के लिए यह काव्य रूचि और चुनौती का विषय रहा है। श्रद्धा और अहंकार से परे रहकर ही इसका सही मूल्यांकन सम्भव है।

भक्तिकाव्य मात्र चिन्तन मनन का शास्त्र नहीं इसके पीछे विराट क्रान्तिकारी जनांदोलन था। प्रतिसंस्कृति की स्थापना एवं नये मानव मूल्यों की खोज प्रारम्भ से अन्त तक इस आन्दोलन में रही। भक्तिकाव्य समय के साक्ष्य के साथ सबको साथ लेकर चलता है। इतिहास और समाजशास्त्र के सहारे ही इस काव्य को पूर्णता के साथ समझा जा सकता है। भक्तिकाव्य कला जगत का खेल नहीं है, उसकी वैचारिक क्षमता का सरोकार सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भों से जुड़ा है। मध्यकाल जटिल संघर्षों का काल था, ऐसे परिवेश में रचना कर्म निश्चितरूप से आसान नहीं था। भक्तकवियों को सर्वाधिक प्रेरणा मिली

समाज से और चुनौती मिली सत्ता से। सन्तों ने अपना आक्रोश सबसे अधिक सामंतवाद समर्थित पुरोहितवाद के प्रति व्यक्त किया है। कबीर का मानना है कि पाथर पूजने से हरि नहीं मिलता है। सूर के आराध्य का आह्वान है कि इन्द्र की जगह प्रत्यक्ष गोवर्धन पूजन हो। दोनों का मार्ग अलग-अलग है। परन्तु मंजिल एक। विषयवस्तु, भावसंवेदना और भाषा आदि अनेक दृष्टियों से भक्तिकाव्य मध्ययुगीन साहित्य-समाज का प्रमाणिक साक्ष्य है। यहाँ मानव की जातीय एवं जनवादी समस्याओं को निर्भीकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। यहाँ अनुभूतियों एवं नवीन विचार का ऐसा प्रकाश पुँज है जिसमें सभी सर्जक अपनी विशेषता को कायम रखते हुए एक दूसरे को आलोकित करते हैं।

भक्तकवियों का रचना–संसार भारतीय साहित्य और समाज का मेरुदण्ड है। शोध एवं समीक्षा का विधिवत् प्रारम्भ यहीं हुआ। भक्तिकाव्य की संश्लिष्ट एवं गत्यात्मक रचनाधर्मिता शोधकर्ताओं को लगातार आकर्षित करती रही है। इसके बाद भी भक्तिकाल के अनेक आयाम हैं जिन पर आधुनिक दृष्टि से विचार नहीं हो पाया है। समकालीन आलोचना के दो पाँव हैं स्त्री और दलित विमर्श, चूँकि भक्तिकाव्य में पहली बार अवर्ण एवं नारी को स्थान मिलता है, इसलिए भक्तिकाव्य के शोध से साहित्य जगत को एक नया समाज-दर्शन मिलेगा। समाज एवं साहित्य की सोच स्त्री के प्रति बदल रही है, सम्प्रदायिकता एवं जातिवाद जैसी अनेक समस्याएं भक्तिकाव्य की प्रासंगिकता को बढ़ा रही हैं। ऐसी ही परिस्थितियों के प्रभाववश मैं अपने शोध का विषय चुना "भक्तिकाव्य की स्त्री विषयक चेतना का समाजशास्त्रीय अध्ययन"।

अपने शोध कार्य मे मैं भक्तिकाल के प्रत्येक शाखा के एक-एक प्रतिभासम्पन्न एवं प्रभावशाली कवि को रखा क्योंकि भक्ति काव्य के हर कवि की "स्त्री विषयक चेतना का

समाजशास्त्रीय अध्ययन'' एक शोध प्रबन्ध में संभव नहीं है। मीरा स्त्रीवादी लेखिका हैं और भक्तिकाव्य की प्रमुख कवयित्री, इसलिए उनके विद्रोही व्यक्तित्व को केन्द्र में रखकर, एक अध्याय का चुनाव किया गया। मेरा यह शोध कार्य कुल 9 अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय ''भारतीय सामाजिक व्यवस्था और नारी'' है । इस अध्ययाय में सामाजिक जीवन के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान दौर तक समाज में स्त्री के स्थान एवं स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। प्रारम्भिक समाजव्यवस्था में परिवार मातृसत्तात्मक थे, इसी आधार पर उनकी स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। शासन एवं सभ्यता के विकास के साथ शक्ति का संचय पुरुष ने किया और स्त्री को मिला मात्र उत्पादन का अधिकार। संग्रह और विक्रय पुरुष करता रहा। मध्यकाल संघर्ष और संक्रमण का काल था इसलिए स्त्रियों की दशा सबसे अधिक दयनीय इसी काल में रही। आधुनिक युग में संवैधानिक एवं कानूनी अधिकार मिलने से उसकी स्थिति में कुछ सुधार हुआ है। मगर उनकी सोच और मानसिकता पुरुषवादी ही है उसमें विशेष बदलाव नहीं आया है।

द्वितीय अध्याय का नामकरण मैने ''मध्यकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश'' किया है। इस अध्याय में मध्यकाल का सामाजिक जीवन, व्यापार एवं प्रौद्योगिकी, संस्कृति और सभ्यता को समझने का प्रयास किया गया है। इस काल में एक ओर धार्मिक संघर्ष था, तो दूसरी ओर सामाजिक समन्वय के साथ व्यापार एवं प्रौद्योगिकी का विकास। इस काल में शासकों द्वारा प्रदत्त सुविधा और संरक्षण से व्यापार की उन्नति हुयी। कई जातिय समूह के मिलने से कला का यह चर्मोत्कर्ष काल रहा है। इस काल में गायन-वादन, नृत्य, संगीत, साहित्य, स्थापत्य आदि क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति हुयी।

तृतीय अध्याय ''भक्ति आन्दोलन और नारी: समाजशास्त्रीय अवलोकन'' है। इस अध्याय में भक्ति-आन्दोलन के उद्भव और विकास में नारी की महत्ता और योगदान का

विश्लेषण किया गया है। प्रमुख भक्त कवियों की स्त्री के प्रति कैसी दृष्टि रही है। उसे भी समझने का प्रयास किया गया है। भक्ति-आन्दोलन में पहली बार नारी और दलित वर्ग से रचनाकार आये और उनकी प्रतिभा को समाज के आम जनमानस द्वारा स्वीकार किया गया तो सामंतों द्वारा विरोध भी हुआ।

चतुर्थ अध्याय "तुलसी की स्त्री-विषयक चेतना" पर आधारित है । इस अध्याय में मैं 'मानस' में आये विचारों को केन्द्र रखकर तुलसी की स्त्री विषयक चेतना का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया। कुछ ही स्थानों पर ये नारी की करुणा से प्रभावित होते हैं। अधिकांश स्थानों पर ये संस्कृत साहित्य और स्मृति ग्रन्थों की तरह नारी निंदा करते हैं। राम के प्रति भक्ति रखने वाली स्त्रियों की कहीं भी निंदा नहीं की गयी है। निदंक उक्तियाँ तो अधिक मिलती हैं मगर निंदित नारी पात्रों की संख्या कम है।

पंचम् अध्याय में "सूर की स्त्री-विषयक चेतना" का विवेचन है । सूरदास के रचना संसार में पहली बार स्त्रियों को स्वतंत्रता एवं समानता जैसे आधुनिक अधिकार मिलते हैं। गोपियों एवं राधा के श्रम का गोचारण-संस्कृति में मंहत्त्व है, उनके कार्यों से अर्थोपार्जन होता है। आर्थिक स्वावलम्बन के कारण ही वे स्वतंत्रता और समानता जैसे अधिकारों का उपयोग करती हैं। 'भ्रमरगीत प्रसंग' में गोपियों की विजय लोकतान्त्रिक मूल्यों की जीत है। गोकुल का सम्बन्ध मध्ययुग से नहीं है, उसका सम्बन्ध स्त्री हृदय में सदियों से दबी आकांक्षा से है।

षष्ठम् अध्याय "जायसी की स्त्री-विषयक चेतना" है। इस अध्याय में नागमती के माध्यम से कृषक समाज की स्त्री और पद्मावती के माध्यम से सामंती समाज की स्त्री की समस्या एवं आशा-आकांक्षा का चित्रण है। जायसी की स्त्री विषयक चेतना पर न तो तसब्बुफ़ का प्रभाव है और न ही इस्लाम धर्म का। जायसी पर सार्वधिक प्रभाव मध्यकालीन

समाज का है। जहाँ स्त्री को वरण का अधिकार नहीं था अपितु उसे हरण का शिकार होना पड़ता था। जब स्त्री की वेदना और पीड़ा का चित्रांकन करने लगते हैं तो सूफी सम्प्रदाय की सीमा उन्हें रोक नहीं पाती हैं। उनके यहाँ स्त्री गुरु और अलौकिक सत्ता के रूप में आती है तो घरनारी के रूप में भी।

सप्तम् अध्याय "कबीर की स्त्री-विषयक चेतना" है। इस अध्याय में "निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग', 'कामी नर कौ अंग' एवं अन्य पदों के आधार पर कबीर के स्त्री सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण किया है। माता एवं पुत्रवधू की पीड़ा से कबीर अवगत है। पतिव्रता को वे श्रेष्ठ स्त्री मानते हैं, जिसे आभूषण की आवश्यकता नहीं। सामंती व्यवस्था की प्रमुख वस्तु "कंचन कामिनी" के विरोधी हैं, नारी के 'जार-कर्म' के विरोधी हैं, न कि पारिवारिक नारी के। नारी के प्रति उपेक्षा एवं हीनता का भाव मध्यकालीन समाज की मनोवृत्ति रही है। सन्तों का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध था, तो वे इस मनोवृत्ति से किस प्रकार बच सकते हैं।

अष्टम् अध्याय "मीरा का व्यक्तित्व और विद्रोह" है। सामंती समाज एवं वर्णव्यवस्था के बीच घूँटती नारी की अनुभूति एवं आकांक्षा का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। एक स्त्री की रचनाधर्मिता पुरूषवादी सत्ता को चुनौती दिये बिना जिन्दा नहीं रह सकती है। मीरा में पारिवारिक जड़ता एवं सामंती बन्धनों को तोड़ने का अपूर्व साहस था। जिस समाज में स्त्री की आशा-आकांक्षा नाम की कोई चीज न हो वहाँ मीरा 'स्त्री अस्मिता' की लड़ाई को आजीवन लड़ती हैं। उनकी कविता में मिथकीय व्यक्तित्व एवं कहानी कला एक साथ मिलती है क्यों? इस पर भी विचार इस अध्याय में किया गया है।

नवम् अध्याय "उपसंहार" है। इस अध्याय में पुरे शोध प्रबन्ध का निष्कर्ष देने का प्रयास किया गया है। भक्तिकाव्य में स्त्री का विविध स्वरूप एवं स्थान मिलता है। इस

स्वरूप का सम्बन्ध मध्यकालीन समाज से है या कवियों के कल्पना लोक से। भक्ति काल के कवियों का स्थान लोकाश्रय था न कि राजाश्रय, इसलिए इनकी रचनाओं पर प्रमुख प्रभाव जनमानस का है। अन्य प्रभाव भी है मगर गौण रूप में।

सर्वप्रथम मैं उन विद्वानों को नमन करता हूँ जिनकी रचनाओं का अध्ययन शोध-कार्य के दौरान किया। आकाशधर्मा गुरु श्री सूर्य नारायण जी का आजीवन आभारी रहूँगा, जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय मुझ जैसे साधारण विद्यार्थी के शोधकार्य के लिए दिया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग के समस्त गुरुजनों को प्रणाम करता हूँ, जिनका स्नेह आज भी मेरे लिए एकमात्र शरणस्थली है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एक शोधछात्र के रूप में यहाँ के गुरुजनों से जो सहयोग एवं सुझाव मिला उसे मैं शब्दों में नहीं व्यक्त कर सकता। आप लोगों को प्रणाम निवेदित करता हूँ एवं आशीर्वाद की आकांक्षा रखता हूँ।

बिना पारिवारिक सहयोग के तो कोई भी कार्य पूर्ण हो ही नहीं सकता। इस पुनीत कार्य के पूर्ण होने के शुभ अवसर पर देवतुल्य पिता जी एवं पितातुल्य जीजा बन्धुओं को सादर नमन करता हूँ।

शोधकार्य में सहयोगी साथियों एवं सहृदय सहपाठियों – सर्वश्री राम अवध, सुभाष, सन्तोष, अखिलेश, को धन्यवाद तो नहीं दूँगा बल्कि इनकी सफलता एवं सहयोग की कामना करता हूँ । आदरणीय अशोक कुमार सिंह, कृष्ण कुमार सिंह एवं हीरालाल यादव को यथोचित अभिवादन ज्ञापित करता हूँ।

चन्द्रभान सिंह यादव

विषय-सूची

''भक्तिकाव्य की स्त्री विषयक चेतना का समाजशास्त्रीय अध्ययन''

क्र0सं0	अध्याय	पृष्ठ संख्या
1.	भारतीय सामाजिक व्यवस्था और नारी	1 – 14
2.	मध्यकालीन सामाजिक – सांस्कृतिक परिवेश	15 – 35
3.	भक्ति-आन्दोलन और नारी: समाजशास्त्रीय अवलोकन	36 – 61
4.	तुलसी की स्त्री–विषयक चेतना	62 – 92
5.	सूरदास की स्त्री – विषयक चेतना	93 – 116
6.	जायसी की स्त्री – विषयक चेतना	117 – 142
7.	कबीर की स्त्री – विषयक चेतना	143 – 164
8.	मीरा का व्यक्तित्व और विद्रोह	165 – 190
9.	उपसंहार	191 – 214

अध्याय - 1

भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं नारी

काल का चक्र प्रवणशील सरिता की तरह सदैव गतिशील रहता है। अतीत की पृष्ठभूमि में रूढ़ियाँ वर्जनाएँ तथा जर्जर मानवीय मूल्य प्रगति की सतत प्रक्रिया में विलीन होकर मृतप्राय हो जाते हैं, जबकि नवीन मूल्य व्यवस्थित होते रहते हैं। परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं परिष्कार मानव चेतना की नैसर्गिक प्रक्रिया है।

कालक्रमिक रूप से सामाजिक व्यवस्था भी परिष्कृत एवं परिवर्द्धित होती रही। व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में जननी तथा वाहिका नारी की प्रास्थिति भी समयानुसार परिवर्तनशील रही।

मानव के सामाजिक विकास का प्रारम्भिक दौर 'वृन्द' समाजों या सरल समाजों का दौर था जिसमें स्त्री व पुरूष दोनों ही खाद्य संग्रहण के कार्य में संलग्न रहने वाले एक 'उत्पादक इकाई' थे। इसमें भी नारी 'उत्पादकों की उत्पादक' होने के कारण कुछ ज्यादा ही महत्वपूर्ण थी जिसका परिणाम इनमें उपस्थित 'मातृसत्तात्मक परिवार' इसका 'बहुपति प्रथा' जैसी प्रथाओं वे रूप में प्राप्त होता है। इसका कारण जहाँ आर्थिक क्षेत्र में अर्थव्यवस्था का सरल रूप होने के कारण विनिमय का अभाव जिससे पुरुष के हाथों में अर्थ का संकेन्द्रण न होना था वहीं सामाजिक क्षेत्र में वर्ग विभेदों का अभाव था। इस काल के धर्म में भी वह भावना नहीं थी जो परवर्ती काल में स्त्रियों को 'अपवित्र' मानने लगी थी इस सन्दर्भ में प्रो० चौथी राम यादव ने उचित ही कहा है—

"मातृ सत्तात्मक कबिलाई समाज के उस आदिम श्रम विभाजन के काल में स्त्री और पुरुष पारस्परिक समानता के आधार पर समाज को संगठित करते थे। कम शारीरिक शक्ति वाले घर के भीतर स्त्रियाँ और अधिक शारीरिक शक्ति वाले घर के बाहर के काम पुरुष किया करते थे। दोनों के काम सामाजिक व सार्वजनिक महत्व के थे।"1

सामाजिक परिवर्तन न सभ्यताओं के विकास क्रम में नगरीय सभ्यता की प्रतिनिधि सैंधव सभ्यता हमारे सम्मुख आती है परन्तु इसकी लिपि के अभी तक अपठनीय होने के कारण इसकी सामाजिक व्यवस्था के बारे में बहुत अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसके बाद भी यहाँ पर किए गए पुरातात्त्विक उत्खननों एवं अन्वेषणों से प्राप्त अनेक नारी मृण्मूर्तियाँ व अन्य पुरातात्विक साक्ष्य, सैंधव सभ्यता में नारी की उन्नत एवं सम्मानजनक स्थिति की ओर संकेत करते हैं। सैंधव कालीन स्त्रियों की दशा पर इतिहासकार डा० हरि नारायण दुबे का कहना है, "इस काल में विनिर्मित बहुसंख्यक नारी मृण्मूर्तियों तथा अधिकांश विलक्षण मातृदेवी-रूपों के अंकनों के आलोक में यह सहज अनुमेय है कि सैंधव समाज मातृसत्तात्मक था।"2

भारतीय उपमहाद्वीप में आर्यों के आगमन और यहाँ पर उनके समामिलन की प्रक्रिया ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन लाए। पशुपालक, यायावर व सरल आर्थिक आधारों, पर व्यवस्थित होने के कारण ऋग्वैदिक समाज भी आधिकांशतया आंतरिक वर्ग एवं वर्ण विभेदों से मुक्त था एवं तद्नुरूप स्त्री-पुरुष अन्र्तसम्बन्ध भी सहयोगी एवं पूरक प्रवृत्ति के थे। ऋग्वेद स्त्रियों को शिक्षा, वेदाध्ययन, यज्ञ-याजन ब्रह्मचर्य पालन, उपनयन संस्कार, विधवा पुनर्विवाह, नियोग आदि की अनुमति देता है। घोषा, अपाला व विश्वार जैसी स्त्रियों की अच्छी स्थिति का द्योतक है। ऋग्वेद स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार के रूप में सभा एवं समिति की गतिविधियों में भाग लेने आर्थिक अधिकारों के रूप

सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार का अधिकार प्रदान करता है। ऋग्वैदिक परिवार पितृसत्तात्मक थे। परन्तु ऋग्वेद में वर्णित कौटुबिंक लैंगिक सम्बन्ध (यम-यमी संवाद, माता-पुत्र, पिता-पुत्री, के बीच सम्बन्ध)[3] कबायली मातृवंशिक समाज के अवशेष माने जाते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि इस काल तक मातृ-अधिकार पितृ-अधिकार में पूर्णतः विलीन नहीं हुआ था। इतिहासकार डी०एन० झा का कथन इस सन्दर्भ में पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है, ''पूर्वकालीन आर्य सामाजिक संगठन मूलतः कबायली था। जिसका आधार कौंटुबिकता थी।''[4]

भारतीय समाज व्यवस्था के इतिहास का यह काल संक्रमण का काल रहा जिसमें एक ओर तो स्त्री-पुरुष समानता दृष्टिगोचर होती है वहीं दूसरी ओर अधीनस्थता की ओर प्रतिगमन भी परिलक्षित होता है। समाज की मूलभूत इकाई परिवार का पितृसत्तात्मक होना, परिवार के पुरुष मुखिया को असीमित अधिकारों की प्राप्ति, तथा समाज के सबसे बड़े समूह 'जन' के मुखिया तथा पुरोहित के पद पर कभी भी किसी स्त्री के चयन का उल्लेख न मिलना स्त्री-पुरुष समानता पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा करता है। ऋग्वेद में जहाँ पुत्र (सुवीरा) की प्रार्थना विशेष रूप से की गई है वहीं पुत्री उत्पन्न होने की कामना का न प्राप्त होना लिंग के आधार पर कुछ सामाजिक भेदभाव उत्पन्न होने की ओर संकेत करता है।[5]

यह संक्रमणकालीन व्यवस्था उत्तर वैदिक काल में ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुष सुक्त में उल्लिखित वर्ण विभाजन के 'सावयवी सिद्धान्त' के उर्ध्वाधर क्रम में प्रतिष्ठान के साथ स्थायित्व की ओर अग्रसारित होती है। इस सन्दर्भ में प्रो० चौथीराम यादव का कथन दृष्टव्य है, ''जाति-पाँत और ऊंच-नीच के भेदभाव पर आधारित वर्ण व्यवस्था से नारी की अधीनता का बड़ा गहरा सम्बन्ध है।''[6] इस व्यवस्था ने वर्ण विहित कर्म के पालन को धर्म से जोड़कर स्त्रियों को उत्पादन से दूर करने का कार्य किया। जबकि पशुपालक, यायावर सरल अर्थव्यवस्था से कृषि आधृत जटिल अर्थव्यवस्था में परिवर्तन व उत्पादन के साधनों के

तकनीकी विकास से विनिमय का प्रारम्भ तथा इससे अर्थ की प्राप्ति हो रही थी। उत्पादन से दूर होने के साथ-साथ नारी राजनैतिक संगठनों की सभा व समिति की सदस्यता से भी वंचित हुई जबकि सत्ता व राज्य के महत्व व शक्ति में लगातार अभिवृद्धि हो रही थी। इस प्रकार अर्थ, शक्ति व महत्व के पुरुष वर्ग में केन्द्रीकरण ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की स्वामित्व की भावना का विकास किया जिसके साथ स्त्री को भी जोड़ दिया गया। इसी से कालान्तर में 'पति परमेश्वर' की संकल्पना के साथ ईश्वरीय गरिमा का विकास हुआ जिसकी अभिव्यक्ति हमें मनु-स्मृति के इस श्लोक में मिलती है—

"विशीला: कामवृत्तो व गुणर्वा परिवर्जित:।

उपचर्य: स्त्रियासाध्व्या सततं देववत्पति॥

(सादाचार से हीन, पर-स्त्री से अनुरक्त और विद्या आदि गुणों से हीन पति भी पतिव्रता स्त्रियों को देवता के समान पूज्य होता है।")[7]

पुत्री की प्राप्ति पर व्यक्त की जाने वाली घोर चिन्ता, शूद्रों के साथ नारी को भी अपवित्र मानकर उपनयन संस्कार व वेदाध्ययन से वंचित करने की उत्तरवैदिक कालीन प्रवृत्ति से सर्वप्रथम नारी की गतिशीलता पर प्रतिबन्ध आरोपित करने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इस प्रवृत्ति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए धर्म व धार्मिक साहित्य का प्रयोग किया जिसकी पुष्टि शतपथ ब्राह्मण के इस उल्लेख से होती है, "प्रव्रज्या (की शिक्षा) देने के समय शिक्षक स्त्री, शूद्र, कुत्ते और काले पक्षी को न देखे क्योंकि वे असत्य हैं।"[8]

ऐतिहासिक काल में उत्तरवैदिक काल ही वह काल है जिसमें सामाजिक संरचना और संगठन का व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त करता है और यहीं से स्त्री उत्पीड़न और दासता प्रारम्भ होती है।

हालांकि उत्पीड़न और दासता के प्रारम्भ के बाद भी नारी जीवन परवर्ती काल की अपेक्षा बेहतर था। गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषी स्त्रियों का समाज में सम्मान, सार्वजनिक जीवन और अध्ययन व अध्यापन से संलग्नता तथा विधवा पुनर्विवाह, नियोग प्रथा आदि की अनुमति ने नारी जीवन को कष्टप्रद नहीं होने दिया था। प्राकृतिक अधिकार नहीं अपितु दान के रूप में प्राप्त उपरोक्त अधिकार स्त्रियों को लम्बे समय तक प्राप्त रहे परन्तु उनकी स्थिति में लगातार गिरावट आयी। अचल सम्पत्ति से वंचित करने के लिए स्त्री को ही चल सम्पत्ति बनाकर उसे गृह स्वामिनी रूपी प्रधान दासी बनाने का प्रयास अनवरत चलता रहा। अन्ततः मौर्योत्तरकाल में उसका सार्वजनिक जीवन भी प्रतिबन्धित कर दिया गया।

प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध द्वारा स्त्रियों को संघ में प्रवेश न देना उसी पुरुष दृष्टि का द्योतक है जो स्त्रियों को सभी बुराइयों की जड़ मानने लगी थी। स्त्री अब एक सम्पत्ति मानी जा रही थी अर्थात नारी मात्र भोग्या हो गयी। इस सन्दर्भ में गौतम धर्मसूत्र, जो मुख्यतः प्राक्मौर्ययुगीन ग्रन्थ है, पत्नी और सम्पत्ति के स्वभाविक उपभोग करने वालों को चेतावनी देते हुए कहता है, "पशु, भूमि और स्त्री का अत्यधिक उपभोग उचित नहीं है।"[9]

मनु व याज्ञवल्यक द्वारा स्त्री को आयु के अनुसार पिता, पति व पुत्र के नियन्त्रण में रखने का प्रावधान, रामायण में आदर्श के माध्यम से स्त्री की दुर्दशा का वर्णन तथा महाभारत में स्त्री हरण व जुए में दांव पर लगा देने के उल्लेख उसकी अनवरत गिरती हुई स्थिति उस पर बढ़ते हुए नियन्त्रण व प्रभुत्व के प्रमाण हैं। रामायण में कहा गया है कि, "नृपरहित राज्य में व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अधिकार को कायम नहीं रखा जा सकता और न ही पत्नी नियंत्रण में रहती है"[10]

महाकाव्यों व स्मृतियों का काल सैद्धान्तिक व व्यवहारिक दोनों स्तरों पर नारी की स्थिति में गिरावट का काल रहा। हालांकि धर्म के क्षेत्र में स्त्रियों व देवियों का महत्व बढ़ा

और यह प्रक्रिया उत्तरवैदिक काल से ही चली आ रही थी। जैसे-जैसे स्त्रियों की दशा में गिरावट आती गयी वैसे-वैसे देवियों का महत्व व उनकी संख्या बढ़ती गयी। यह प्रक्रम सामाजिक व्यवस्थाकारों द्वारा लौकिक अधिकारों में कटौती को अलौकिक अधिकारों व महत्व में वृद्धि कर तुष्ट करने का प्रयास रहा होगा।

नारी की इस हीन दशा का मुख्य कारण व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि व कृषि के विकास से विकसित ऐसी अर्थव्यवस्ता रही जिसमें स्त्रियों की भूमिका नगण्य थी और वह आर्थिक अधिकारों से वंचित थीं।

गुप्तकाल एवं गुप्तोत्तर काल में विकसित एव नवीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था सामन्तवाद, जिसमें भू-स्वामित्व ही सामाजिक प्रतिष्ठा एवं महत्व का आधार था, ने भू-स्वामित्व विहीन नारी के अवशिष्ट मानवीय अधिकारों का भी हरण कर लिया। पहले से 'भोग्या' मानी जा रही नारी अब मात्र स्वामी के व्यक्तिगत उपभोग के लिए ही उस पर पर्दा-प्रथा थोप दी गयी। बाल-विवाह ने स्त्री शिक्षा का गला ही घोंट दिया। 'सती' जैसी प्रथाओं ने उनसे जीवन का अधिकार भी छीन लिया और इसके लिए भी उसी 'धर्म' का सहारा लिया गया जो जीवन और मरण को ईश्वर का एकाधिकार बताता है। रोमिला थापर नें सती-प्रथा के सन्दर्भ में बिल्कुल सटीक टिप्पणी की है, ''किसी स्त्री को अपने पति के युद्ध में मारे जाने पर स्वयं भी मरने के लिए प्रस्तुत रहना पड़ता था, और-स्वेच्छा से या विवश होकर - सती होना एक रिवाज बन गया था।''[11]

सामंतवादी समाज व्यवस्था की विशेषताओं पर प्रो० चौथी राम यादव ने बिल्कुल सटीक वक्तव्य दिया है, ''भारतीय सामंतवाद का एक प्रमुख लक्षण है-जाति प्रथा पर आधारित वर्ण-व्यवस्था, जिसमें एकपक्षीय वैवाहिक एकनिष्ठता के कारण नारी व शूद्र दोनों

ही दलित और शोषित थे, जबकि न तो स्त्रियाँ पुरुषों से और न ही अवर्ण सवर्णो से हीन होते हैं, बल्कि यही कि अमानवीय समाज-व्यवस्था ने उन्हें हीन बना रखा है।"[12]

सल्तनतकालीन हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति में शायद ही कोई परिवर्तन हुआ। मुस्लिम आक्रमण और मुस्लिम समाज के साथ अन्तः क्रिया के परिणामस्वरूप पर्दा प्रथा, बाल विवाह व सती प्रथा को बढ़ावा व व्यापकता ही प्राप्त हुई। पति के प्रति पत्नी की एकपक्षीय निष्ठा और सेवा के दायित्व लादने वाले पुराने नियम कायम रहे। परित्याग, संक्रामक रोग आदि जैसी विशिष्ट परिस्थितियों में विवाह विच्छेद की अनुमति थी परन्तु इस पर भी स्मृतिकारों में विवाद है और सम्भवतः व्यवहार में ऐसा करना संभव नहीं रहा होगा। विधवा-विवाह एक वर्जित प्रथा बनी रही जबकि सती-प्रथा जैसी अमानुषिक प्रथा को अनवरत होने वाले युद्धों व स्त्री हरण में बढ़ावा ही दिया। अफ्रीकी यात्री इब्नबतूता ढोलकों की ऊँची आवाज के साथ एक स्त्री द्वारा स्वयं को अपने मृत पति की चिता पर जलाए जाने के दृश्य का मर्मांतक वर्णन किया है।[13]

सम्पत्ति के अधिकार से सन्दर्भ में पुत्रहीन होने पर विधवा के अधिकार को लेखकों ने स्वीकार किये, लेकिन कई शर्तों के साथ। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पत्तिगत अधिकारों में कुछ वृद्धि हुई। मुस्लिम समाज में स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे।

पर्दा-प्रथा उच्च वर्गीय हिन्दू व मुस्लिम दोनों ही समाजों में व्याप्त थी और आक्रमणकारियों द्वारा हिन्दू महिलाओं को पकड़े जाने के भय ने बाल विवाह की तरह इसे भी व्यापकता प्रदान की। इस सन्दर्भ में सतीश चन्द्रा का कहना है कि, "शायद पर्दा-प्रथा की वृद्धि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक सामाजिक चरित्र था। यह समाज के उच्च वर्गों का प्रतीक बन गई, और ऐसे सभी लोग जो समाज की दृष्टि में आदरणीय और सम्मानित होना

चाहते थे इसका पालन करने का प्रयत्न करते थे। साथ ही इसके पक्ष में धार्मिक औचित्य और तर्क भी प्रस्तुत किए गए। कारण जो भी रहा, इसने स्त्रियों को बुरी तरह प्रभावित किया और उन्हें पुरुषों पर अधिक आश्रित बना दिया।[14] पर्दे के सन्दर्भ में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर की पत्नी चेरी ब्लेयर का एक सार्वजनिक समारोह में यह कहना कि बुरके से बड़ा महिलाओं के दमन का कोई प्रतीक नहीं है।[15] उचित प्रतीत होता है।

इस काल में स्त्री शिक्षा उच्च एवं सम्भ्रान्त वर्गों तक ही सीमित थी वह भी सार्वजनिक जीवन के लिए नहीं अपितु बात-चीत एवं रहन-सहन की योग्यता विकसित करने के लिए। इस काल में एक मात्र सम्मानित अपवाद रजिया सुल्तान दिखाई पड़ती है जो अन्ततः मर्दवादी नजरिया का शिकार हुई। मुगल काल में इन सम्मानित अपवादों में कुछ वृद्धि होती है, और गुलबदन बेगम, माहमअंगा, नूरजहाँ, जहाँ आरा, अहिल्या बाई, चाँदबीबी, के उल्लेख प्राप्त होते हैं। परन्तु यह वृद्धि नारी की दशा में सुधार का प्रतीक न होकर इनकी पृष्ठभूमि व रूचियों का प्रतीक थी। मुगलकाल भी कमोवेश उसी सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करता है जो सल्तनतकाल में विद्यामान थी। अतः मध्यकालीन नारी के विषय में यही कहा जा सकता है कि वह व्यष्टि और समष्टि दोनों ही रूपों में पराधीन थी और इस पराधीनता ने उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व व सर्जनात्मकता को कुचलकर रख दिया। इस पराधीनता का सबसे सटीक प्रमाण 15वीं शताब्दी के विदेशी यात्री निकोली डी कोण्टी का कथन है कि, 'विजयनगर के राजा की कम से कम 3000 पत्नियों तथा उपपत्नियों को अपने पति की मृत्यु पर सती होने के लिए बाध्य किया गया था।''[16]

इन विपरीत सामाजिक परिस्थितियों में भी निम्न वर्गों में नारी अपेक्षाकृत स्वतंत्र एवं कुछ सीमा तक शोषण से मुक्त थी। हालांकि निम्न वर्गों में नारी की दशा परवर्ती काल में भी अपेक्षाकृत बेहतर ही थी। अकबर, कुछ पेशावाओं, औरंगजेब व सवाई राजा मिर्जा जयसिंह

नें सती-प्रथा को रोकने का प्रयास तो किया लेकिन वे असफल ही कहे जा सकते हैं। मीरा का इस शोषण व अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह व सूफी 'शमा' में भाग लेने वाली महिलाओं के उल्लेख कुछ सकारात्मक दिशा तो दिखाते हैं लेकिन किसी व्यापक धारा की ओर संकेत नहीं करते हैं।

राष्ट्रीय जागरण और मुक्ति संघर्ष काल में स्त्री समुदाय में मुक्ति की नवीन चेतना संचारित हुई। इस चेतना को प्रारम्भ में कुछ पुरुष सुधारकों ने लाने का कार्य किया तो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में कुछ जागरूक स्त्रियों ने परिवर्तन की पुरजोर आवाज उठायी। परम्परा नैतिकता, धर्म, आचार और प्राकृतिक न्याय को लेकर बहसों का दौर चला। इसमें कुछ सम्मानित नाम जैसे राजा राममोहन राय, विलियम बैंटिक, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, बी० एम० मालाबार, एम० जी० राना डे, पंडिता रमाबाई, ज्योतिवा फुले, डी० के० कर्वे, महात्मा गाँधी आदि हैं। इनके प्रयासों से नारी जाति में एक नयी जागृति का संचार हुआ जिसका प्रमाण हमें मताधिकार के लिए संघर्ष व 1919 में उसे प्राप्त करना तथा 1927 में भोपाल में आल इंडिया वुमेन कान्फ्रेन्स में मिलता है। इस चेतना के सन्दर्भ में वरिष्ठ पत्रकार राजकिशोर ने कहा है कि, "सेक्स के मामले में गाँधी जी के विचार बहुत ही दकियानूस किस्म के थे, पर यह गाँधी ही थे, जिन्होंने स्त्री को सेक्स के मामले में न कहने का अधिकार दिया जो अधिकार अभी तक भारत की कानून – व्यवस्था नहीं दे पायी है। वस्तुतः यह समग्र रूप से नवजागरण का काल था और आलोड़न के इस दौर में स्त्री का सवाल उपेक्षित रह जाता यह संभव नहीं था।"[18]

महिलाओं की उन्नति के लिए नीति निर्माण में 1970 के दशक में कल्याण की संकल्पना, 80 के दशक में विकास की नीति पर जोर दिया गया। सरकार इनके लिए शिक्षा की सघन योजना, 1958, अल्पकालीन आवास सुविधा योजना, 1969, व्यवसायिक प्रशिक्षण

कार्यक्रम 1975, स्वंयसिद्ध योजना, मार्च 2001, में आदि योजनाएँ निर्मित व संचालित कर रही है। 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष भी घोषित किया गया।

आज महिलाओं में आयी जागृति का ही परिणाम है कि देशभर में प्रतिदिन अनेकों ऐसे मामले सामने आ रहे हैं जब लड़कियाँ दहेज लोलुप लड़कों के साथ विवाह से इन्कार कर दे रही हैं।

साक्षरता में वृद्धि और कानूनी अधिकार मिलने के बाद भारतीय समाज में समाज के आधे हिस्से के सन्दर्भ में उपरी तौर पर एक सुनहरी तस्वीर सामने आ रही है। लेकिन वास्तविकता कुछ और है। आज भी स्त्री-पुरुष अनुपात 933 है, स्त्री भ्रूण हत्या जारी ही नहीं है बल्कि बढ़ी है दहेज के लिए उत्पीड़न व जला देना आम बात है। बलात्कार और यौन शोषण जैसी घटनाएँ आम जनमानस को उद्वेलित नहीं करती है। पति परमेश्वर की अवधारणा को चुनौती तो मिली है लेकिन आज भी अधिकांश महिलाओं के मन-मस्तिष्क, में पति परमेश्वर की अवधारणा कहीं गहराई में बैठायी गयी है, आज भी भारतीय समाज लड़कियों को विवाह के लिए ही तैयार करता है, नारी के प्रति भोग्या का दृष्टिकोण, यह सारे तथ्य नारी की वास्तविक स्थिति को बयान करते हैं। लखनऊ की एक संस्था 'वात्सल्य' द्वारा कराये गए एक सर्वेक्षण में यह बात सामने आयी,भ्रूण का लिंग परीक्षण कराकर लोग बेटियों को बड़ी संख्या में गर्भ में मार दे रहे हैं और यह जघन्य कृत्य करने वालों में पढ़े लिखों की संख्या अधिक है।[18] स्वतंत्रता के इतने वर्षों के बाद भी एक स्त्री की पहचान पुरुष से ही है। नारी स्वतंत्रता और स्त्री-पुरुष समानता का इतना ढोल पीटने के बाद भी आज स्त्री का अपना कोई वर्ण नहीं है, विवाह के पूर्व पिता की जाति और पश्चात पति की जाति और यदि पति उसे छोड़ता है तो जाति भी छीन लेगा। कहने का अर्थ यह है कि स्त्री "चल

सम्पत्ति'' बनीं हुई है। जिसे 'उपमानव'' या दोयम दर्जे का नागरिक ही माना जा रहा है आज भी वह पुरुष के लिए एक मात्र ''जननांग'' और '',सुविधा-साधन'' है।

दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र में जब समाज के आधे हिस्से के लिए मात्र 33% का महिला आरक्षण आया तो भी पुरुषों के बीच घमासान मचने लगा। ऐसे में इस बात पर आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं है कि भारतीय राजनीतिक दृश्यों में रानी-महारानियों और साध्वियों की नुमाइश है, वे साधारण स्त्रियाँ गुम हो गई है जिनके हाथों में दमन की रेखा खुदी है।

भारतीय नारी के सन्दर्भ में आधुनिक लेखिका मैत्रेयी, पुष्पा ने ठीक ही कहा कि, ''कितनी गुलामियाँ खत्म हुई, कितनी आजादियाँ आईं लेकिन औरत के बंधन कटना अब भी शेष रह गया है।''[19]

अतः व्यवहारिक दृष्टि से देखे तो आज भी स्त्री पराधीन प्रतीत होती है। तो क्या पुरुषों से स्वतंत्र स्त्रियों की पहचान की अभिव्यक्ति हो सकती है ? वैचारिक दृष्टि से तो हो सकती है परन्तु व्यवहारिक तौर पर नहीं। मीनाक्षी मुखर्जी ने ठीक ही कहा है कि, ''एक स्त्री के लिए एक पुरुष की अपेक्षा सामाजिक अनुपालन अधिक आवश्यक है।''[20]

अतः नारी दासता की जंजीरों को काटने के लिए पृथकता की नहीं अपितु प्रत्येक स्तर पर स्वतंत्रता, समानता व सामंजस्यता की अवश्यकता है। जेम्स मिल ने स्त्रियों के राजनैतिक अधिकार के सन्दर्भ में कहा है, ''पुरुष चूँकि स्त्रियों के बारे में लगभग कुछ नहीं जानते हैं, इसलिए वे स्त्रियों की योग्यता या कार्यों को निर्धारित करने वाले कानून बना ही नहीं सकते। जरूरी है कि स्त्रियों को अपने कार्य की स्वतंत्रता दी जाय।''[21]

कृत्रिम व विवशताजन्य 'स्त्रियोचित' विशिष्ट गुण 'आत्म-बलिदान' या 'त्याग' में कमी आनी चाहिए। नारी को मात्र इसलिए पालपोस कर न तैयार किया जाय कि वह किसी पुरुष का घर संभाले और संतानोत्पादन करे।

नारी व नारी चेतना के सन्दर्भ में निष्कर्ष रूप से इतना ही कहना प्रासंगिक होगा कि भारतीय समाज-व्यवस्था व व्यवस्थाकारों ने नारी की प्रसुप्त शक्तियों का उपयोग नहीं होने दिया है। पुरुषों ने अनेक प्रयोग करके देख लिया है जो बुरी तरह विफल हुआ है क्योंकि समाज का आधा हिस्सा निष्प्राण एवं निष्प्रयोज्य ही रहा है। अतः अब स्त्रियों को आगे आना चाहिए और उन्हें अपने हृदय को केन्द्रित कर एक नये जगत नयी व्यवस्था का निर्माण करना चाहिए जो समानता, स्वतंत्रता एवं सामंजस्यता पर आधृत हो। नारी के पास महान शक्ति है जो क्रान्ति कर सकती है, शान्ति ला सकती है, स्वर्ग बसा सकती है। इसके लिए एक समन्वित प्रयास की आवश्कता है जिसे मन से सम्पन्न करना होगा।

संदर्भ सूची

1. चन्द्रदेव राय - ''अभिनव कदम'' (पत्रिका) पृष्ठ सं.- 91, अंक- नवम्बर 1999- अक्टूबर 2000, प्रकाशक-मंथन, मऊ।

2. डा० हरिनारायण दुबे- ''भारत की अद्यैतिहासिक (प्रारम्भिक हड़प्पन एवं हड़प्पन) संस्कृतियाँ'' पृष्ठ सं-84 संस्करण - 2003, प्रकाशक- शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

3. डी० एन० झा- ''प्राचीन भारत, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल'', पृ०-51, संस्करण-2000, ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्रा० लि०।

4. पृष्ठ सं-49, शेष (3)

5. ''प्राचीन भारत'' पृष्ठ सं०-24, संस्करण - 2001, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार।

6. चन्द्रदेव राय - ''अभिनव कदम'' पृ०-91 शेष वही।

7. ए० एल० बाशम- ''अद्भुत भारत'', पृ० 129, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा।

8. रामशरण शर्मा- ''प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास'' पृ०-67, संस्करण-1993, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।

9. पृष्ठ सं-61, शेष (8)

10. पृ० - 60, शेष (8)

11. प्रो० रोमिला थापर-"भारत का इतिहास" पृ० सं-224, संस्करण-1989, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

12. चन्द्रदेवराय - "अभिनव कदम", पृष्ठ - 93, शेष-वही।

13. सतीश चन्द्रा-"मध्यकालीन भारत: सल्तनत से मुगल काल तक", पृ०-173, संस्करण-2000, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

14. पृष्ठ सं० 174, शेष (13)

15. "राष्ट्रीय सहारा", लखनऊ संस्करण, पृष्ठ-7, 24 नवम्बर 2001.

16. ए० एल० बाशम- "अद्‌भुत भारत", पृष्ठ - 135, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा।

17. राजकिशोर- "हस्तक्षेप", "राष्ट्रीय सहारा", पृ० - 14, संस्करण-लखनऊ, 22 अगस्त 1998.

18. 'महिला सशक्तिकरण....मगर अस्तित्व पर खतरे मौजूद हैं", पृ० - 9, हिन्दुस्तान (पेपर) - 9 मार्च 2001, संस्करण-लखनऊ।

19. राजेन्द्र यादव - "हंस" , पृष्ठ सं० - 47, अंक-दिसम्बर, 2001, अक्षर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।

20. मीनाक्षी मुखर्जी—"रियल्टी एण्ड रियलिज्म : इंजियन ओमेन प्रोटेगोनिस्ट इन फोर 19 सेन्चुरी, नावेल्स) इकोनामिक एंड पोलिटिकल वीकली, Vol-XIX, No.2, 1984.

21. जान स्टुवर्ट मिल — " स्त्रियों का पराधीनता" पृ०-29, संस्करण-2002, प्रकाशक-राजकमल विश्व क्लासिक, नई दिल्ली।

अध्याय - 2

मध्यकालीन सामाजिक-संस्कृतिक परिवेश

मध्यकालीन सामाजिक जीवन

जाति और वर्ण अनादि काल से भारतीय व्यवस्था के मूलाधार रहे हैं। आदिकाल से इस व्यवस्था का विरोध हो रहा है मगर यह जाति व्यवस्था किसी न किसी रूप में आज भी कायम है। साम्राज्य विस्तार एवं व्यापार के लिए अनेकों मानव मण्डलियाँ यहाँ आयी और भारतीय समाज में वे इस प्रकार घुल-मिल गयीं कि आज उन्हें पहचानना असम्भव है। आठवीं सदी में पैगम्बरी धर्म के अनुयायियों का आगमन होता है। ये अपने आचार-विचार, आस्था, विश्वास और जीवन-प्रणाली में इतने दृढ़ थे कि भारतीय समाज इन्हें आत्मसात नहीं कर पाया। इस्लाम के आगमन के समय संघर्ष यदि साम्राज्य विस्तार की भावना से प्रेरित है तो सांस्कृतिक समन्वय इस्लाम की मानवतावादी विचारधारा से।

मध्यकाल में हिन्दू समाज व्यवस्था जटिल, पक्षपातपूर्ण और भेद-भाव से युक्त थी प्रारम्भिक मध्यकाल टीकाओं और स्मृतियों का युग था। जिसके लेखक निम्न तबकों को सारे अवगुणों से युक्त मानते हैं। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जैसे उच्च वर्गों अवगुणों से युक्त मानते हैं। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जैसे उच्च वर्गों में सारे सद्गुणों का आरोप किया गया। किस वर्ण और जाति के लोगों को कौन सा कार्य करना चाहिए इसका भी निर्धारण वर्ण-व्यवस्था के पोषकों द्वारा कर दिया गया था। मध्यकाल में व्यापार की उन्नति के साथ निम्न जातियों में चेतना जागृत हुयी। वाणिज्य एवं तकनीकी विकास ने जाति-व्यवस्था की जटिलता को कमजोर किया जिससे श्रमजीवी निम्न जातियों में आत्म सम्मान का भाव जाग्रत हुआ। यही भाव भक्ति आन्दोलन की मूल प्रेरणा था।

क्षत्रिय और ब्राह्मण के कर्त्तव्य में समयानुकूल परिवर्तन किया गया मगर शूद्रों और स्त्रियों पर वे वंदिशे जारी रही जो प्राचीन काल से चली आ रही थीं। शूद्र का प्रमुख कर्त्तव्य अपने से उच्च वर्ण की सेवा करना था। इस काल में शूद्रों को दोहरी मार झेलनी पड़ी एक ओर हिन्दू धर्म की उच्च जातियों द्वारा दूसरी ओर विदेशी आक्रान्ताओं की ओर से। शूद्रों द्वारा वेद का अध्ययन और वाचन वर्जित था। पुराणों के श्रवण को इनको छूट प्रदान की गयी। इस काल में शूद्रों के साथ भोजन करना, एक घर में रहना और साथ में चारपाई पर बैठना तो वर्जित था ही साथ में विद्वान शूद्र में ज्ञानार्जन पर भी पाबंदी थी। मगर सबसे अधिक कठोर प्रतिबन्ध चाण्डालों और अन्य जातिच्युत व्यक्तियों के साथ साहचर्य स्थापित करने पर लगाये गये थे।[1]

हिन्दू समाज में स्त्रियों की दयनीय स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। लड़कियों के लिए अल्पायु में विवाह और विवाह के बाद पतिव्रत धर्म के पालन के नियम कायम रहे। विशेष परिस्थितियों जैसे संक्रमण रोग, परित्याग आदि के समय ही विवाह-विच्छेद की अनुमति थी। इस युग में एक से अधिक पत्नियाँ रखना प्रतिष्ठा और सामर्थ्य की बात मानी जाती थी। विधवा - विवाह को कलियुग में वर्जित माना गया।[2] लेकिन यह प्रतिबन्ध ऊपर के तीन वर्णों पर कठोरता पूर्वक लागू किया जाता था। निम्नवर्गीय समाज इससे मुक्त था।

सती-प्रथा का अनेकों ग्रन्थों में जोरदार समर्थन मिलता है जबकि कुछ लेखक कुछ शर्तों पर ही इसकी अनुमति प्रदान करते हैं। सती-प्रथा उत्तरी और पश्चिमी भारत की उच्च जातियों में सबसे अधिक प्रचलित थी। उच्च वर्ग की नकल करने के कारण यह कुप्रथा समाज के अन्य वर्गों में भी धीरे - धीरे प्रचलित हुयी। यह कुप्रथा इतनी प्रचलित थी कि आधुनिक काल में इसकी समाप्ति के लिए राजाराम मोहन राय को भगीरथ प्रयास करके कानून बनवाना पड़ा।

उच्चवर्गीय स्त्रियों के बीच पर्दा प्रथा का प्रचलन था। इस प्रथा का सबसे अधिक और सबसे पहले प्रचलन ईरान और यूनान आदि देशों में था। अरबों और तुर्कों के माध्यम से यह प्रथा भारत में आयी हालांकि इनके आगमन के पूर्व भी भारत में पर्दा-प्रथा विद्यामान थी। पर्दा-प्रथा जैसी अनेक कुप्रथाओं में सबसे अधिक उत्तर भारत प्रभावित हुआ। पर्दा प्रथा में वृद्धि का मुख्यत: दो कारण था- एक तो आक्रमणकारियों से सुरक्षा दूसरा अमीरों एवं उच्च वर्ग की समाज में अन्य वर्ग द्वारा नकल। इस प्रथा को सम्मानित और आदरणीय वर्ग का प्रतीक भी उस काल में माना जाने लगा था इसके प्रसार के चाहे जो भी कारण रहे हों मगर इतना सत्य है कि इससे स्त्रियों की आत्मनिर्भरता में कमी आयी।

मध्यकालीन समाज में व्यापार एवं प्रौद्योगिकी —

गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ नगरों एवं व्यापार का भी पतन आरम्भ हो चुका था। सोने के सिक्कों में कमी एवं चांदी के सिक्कों में धातु ह्वासन से जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। सामंतवादी व्यवस्था के विकास का कुप्रभाव न केवल आर्थिक और सामाजिक जीवन पर अपितु प्रशासनिक क्रियाओं पर भी पड़ा। इस व्यवस्था में बनियों, एवं धातुकर्मियों को शूद्र की श्रेणी में रखा जैसा कि हिन्दू धर्मग्रन्थों में वर्णित है। सशक्त केन्द्रीय सत्ता के अभाव में छोटे-छोटे राज्य एवं सामंत उभर कर आये। ये छोटे राजा एवं सामंत ग्रामीण जीवन से सीधे जुड़े रहे। जिससे आर्थिक क्षेत्र में कृषि उत्पादन पर अधिक जोर दिया जाने लगा। इसका प्रमाण नगरों की संख्या एवं व्यापार में गिरावट में देखा जा सकता है। इस स्थिति के कारण पूरे उत्तरी भारत के श्रेणियों एवं अन्य व्यापारिक प्रतिष्ठानों को भारी क्षति उठानी पड़ी।[3]

सामंती व्यवस्था में मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय स्तर से होती है। जिससे विशिष्ट बाजार-उत्पादनों को विकसित होने का अवसर नहीं मिल पाता है। पूर्वमध्यकाल में

कारीगर गांव में अपने व्यवसाय को चलाने में स्वतन्त्र नहीं थे। अपने मुखिया के आदेशों से शूद्र की तरह बाध्य रहते थे। इस प्रकार शासक वर्ग के हस्तक्षेप एवं कुप्रभाव के कारण व्यापारिक गतिशीलता और प्रौद्योगिकी क्षमता सीमित रह गयी। तत्कालीन धर्म ग्रन्थों में इन परिस्थितियों का जोरदार समर्थन मिलता है।

विदेशी आक्रमण से राजनैतिक एवं आर्थिक (व्यापारिक) अव्यवस्था कुछ समय के लिए निश्चित रूप से फैलती है। मगर भारत पर अनेक ऐसे विदेशी आक्रमण हुए जिनके वाद राजनैतिक एकता, व्यापारिक विकास एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बल मिला। सिकन्दर, मुहम्मद-बिन-कासिम, गोरी एवं मुगलों के आक्रमण को इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। मध्ययुग में तुर्कों की विजय से शासन और शासक वर्ग के धर्म मात्र में परिवर्तन नहीं हुआ, अपितु दो समृद्ध व्यवस्था के संघर्ष और टकराव से नये आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन हुए। मुहम्मद हबीब ने इस परिवर्तनों को 'शहरी क्रान्ति' के रूप में देखा है। गोरी तुर्कों ने हिन्दूस्तान में व्यापारिक एवं प्रौद्यौगिकी के क्षेत्र में सदियों से चले आ रहे जाति और धर्म के संकीर्ण जुये ऊखाड़ फेंका। जिससे व्यापार एवं प्रौद्योगिकी की उन्नति एवं नगरीकरण की प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ होती है।[4]

इस काल में कृषि समाज के अधिकांश लोगों के जीविकोपार्जन का प्रमुख स्रोत थी। फिर भी खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए महत्त्वपूर्ण तकनीकी परिवर्तन नहीं किये गये हैं। अपितु सिंचाई के क्षेत्र में परिवर्तन के प्रयास देखने में आते हैं। कृषि से होने वाली आय पर इस काल में शासकों का ध्यान लगा रहता था। अनेकों बार कृषि उत्पादन पर लगने वाला कर बढ़ाया एवं घटाया गया। फिर भी कृषि की वास्तविक तकनीक के साक्ष्य हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं। अनुमान लगाया जाता है कि अधिकांशतः कृषि क्षेत्र में यन्त्रों की अपेक्षा हाथों से काम लिया जाता था।कृषि कार्य के लिए सस्ते दर पर दास एवं मजदूर उपलब्ध थे।

सिंचाई के लिए नगर खुदवाने के अलावा शासक वर्ग द्वारा मध्यकाल में कृषि सुधार के लिए कोई व्यापक कार्यक्रम आरम्भ नहीं किया गया।

सिंचाई के प्रमुख साधनों में रहँट, नोरिया, तालाब और नहर थे। रहट का पहला विस्तृत लिखित विवरण "बाबरनामा" में मिलता है। चावल एवं गन्ना पूर्वी भारत एवं दक्षिणी क्षेत्रों में उपजाये जाते थे जबकि गेहूँ, तिलहन का मुख्यतः उत्पादन उत्तरी भारत में होता था। तम्बाकू और आलू जैसी अनेक नकदी फसलों का सर्वप्रथम उत्पादन मध्यकाल में प्रारम्भ होता है जो कि कृषि क्षेत्र में विस्तार और कृषकों के जीवन-स्तर में सुधार का द्योतक है। बढ़ती हुई नगरीय जनसंख्या के लिए उत्पादन का बढ़ना आवश्यक भी था।[5]

व्यापक एवं स्थायी तकनीकी परिवर्तन का सम्बन्ध सशक्त एवं प्रगतिशील केन्द्रीय सत्ता से जुड़ा होता है। पूर्व मध्यकाल की तुलना में सल्तनत एवं मुगल काल से सिक्कों की संख्या में भारी वृद्धि मिलती है। जो बढ़ते व्यापार की ओर संकेत है। इस बात की पुष्टि अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों से भी होती है। मध्य काल में कुछ व्यापारी एवं साहूकार इतने समृद्ध थे कि वे सुल्तान एवं अमीरों को भी कर्जा एवं आर्थिक सहयोग देते थे। सल्तनतकालीन नगर देशी ही नहीं अपितु विदेशी कारीगरों, व्यापारियों एवं अप्रशिक्षित मजदूरों को भी आकर्षित करने मे सफल थे।

मध्यकाल भारत के आर्थिक एवं व्यापारिक इतिहास का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है इस काल की व्यापारिक गतिविधियों को समझने में विदेशी यात्री के विवरण के अलावा समकालीन ग्रन्थ भी हमारी सहायता करते हैं। भारत वर्ष का प्रचीनकाल से ही विदेशों से व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। तुर्कों द्वारा दिल्ली पर शासन करने से इन सम्बन्धों में प्रगाढ़ता आयी। मुहम्मद-बिन-कासिम जिन क्षेत्रों पर शासन या आक्रमण किया उसने वहाँ व्यापारियों को सुरक्षा और क्षमादान दिया। सिक्का नामक स्थान के व्यापारियों ने तो

स्वयं उसे अपना स्वामी मान लिया। दक्षिण भारत में बसाये गये मुसलमान व्यापारी वहाँ की स्थानीय जातियों से इस प्रकार घुल मिल गये कि उनके बीच अंतर्जातीय वैवाहिक सम्बन्ध भी होने लगा।

मध्यकालीन जनता की ईमानदारी एवं शासन की न्यायप्रियता ने व्यापार को विकसित करने में निश्चित रूप से योगदान प्रदान किया। इस काल में भारत एवं चीन में चोरी के लिए मृत्युदण्ड निर्धारित था साथ ही चोरी में बरामद सम्पत्ति को उसके स्वामी तक पहुँचाये जाने की व्यवस्था आज के युग से अच्छी थी। अमीर एवं सामंतों के लिए विलासिता की वस्तुएं, सैनिक साजो-सामान, हथियार आदि का उत्पादन एवं आयात-निर्यात व्यापक स्तर पर राज्य के संरक्षण में होने लगा। जिससे उत्तर भारत के नगरों में गुणात्मक एवं संख्यात्मक प्रगति हुयी। इसका सुखद प्रभाव निश्चित रूप से शूद्रों और समाज की निम्नवर्गीय जनता पर पड़ा होगा।

यदि हम मध्यकालीन लिखित दस्तावेजों, ग्रन्थों एवं सिक्कों का बारीकी से अध्ययन करें तो बर्बर एवं आक्रमणकारी जातियों के रचनात्मक कार्यों का भी अवशेष प्राप्त होता है। मंगोल, तुर्क और मुगल शासक सत्ता प्राप्त करने के बाद ध्वस्त नगरों का पुनर्निर्माण कराते थे और नये नगरों की स्थापना भी करते थे। सड़क निर्माण के बाद स्थान-स्थान पर सरायों, बाजारों एवं भण्डार ग्रहों का निर्माण करते थे जिससे व्यापारीगण सुरक्षा पूर्वक अपना कार्य जारी रख सके। मुगल शासकों ने तो डाकचौकियों एवं पुलिस का भी प्रबन्ध किया।[6] इस काल में बड़े व्यापारियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध के भी प्रमाण मिलते हैं। केन्द्रीय शासकों द्वारा गर्वनरों को व्यापारियों की सुरक्षा एवं सुविधा के लिए विशेष निर्देश दिये जाते थे। व्यापारी विदेशों से बहुमूल्य सामानों के अतिरिक्त

वहाँ के समाचार भी लाते थे। अतः इनके द्वारा व्यापार के साथ ज्ञान-विज्ञान एवं विचारों का अदान-प्रदान भी होता था।

लोदी शासक तो व्यापारी वर्ग से ही सम्बन्धित हैं। अपने शासन की स्थापना के साथ वे व्यापारी वर्ग की सुविधा-असुविधा पर विशेष दृष्टि रखते थे। लोदीयों द्वारा शासति पूरे क्षेत्र में वस्तुओं की सुलभता एवं कम किमतें समृद्ध व्यापार की सूचक हैं। मध्यकाल के अनेक शासकों ने व्यापारियों को क्षति पहुँचनें पर उसकी पूर्ति की व्यवस्था की थी। मार्गों की सुरक्षा, सरायों की देखभाल जैसे अनेक कार्यों के लिए जगह-जगह शहनों एवं गुमाश्तों की नियुक्ति की जाती थी।

भारत में आयातित होने वाली प्रमुख वस्तुओं में ऊँट, घोड़े, हथियार, लोम, कस्तूरी, गोरैदास, मखमल, मेवे एवं शराब आदि सम्मिलित थे। भारत में थल-मार्ग से आयातित होने वाली वस्तुओं में घोड़े प्रमुख थे। अरब, इराक एवं मध्य एशिया से इनका आयात होता था। इनका प्रयोग युद्ध एवं हैसियत के प्रयोजन से किया जाता था। भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं में सूती एवं मलमल के वस्त्र, चावल, चीनी, मसाले एवं दास प्रमुख थे। दासों के निरन्तर निर्यात का प्रमाण मिलता है।[7] जिसकी इस्लामी जगत में बहुत अधिक माँग थी। ये दास अधिकतर समाज के निम्न वर्ग एवं शूद्रों से सम्बन्धित रहे होंगे।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मध्यकाल व्यापारिक समृद्धि का काल रहा है। इस काल के व्यापारी न सिर्फ व्यापार किए अपितु सूफियों की भाँति सांस्कृतिक समन्वय में योगदान किये।

मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक जीवन

मानव जीवन के सर्वोत्तम विचारों एवं वस्तुओं का संग्रह ही संस्कृति का आधार है। संस्कृति समस्त मानवीय क्रियाकलापों का दर्पण है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी अलग

विशेषता और मौलिकता होती है। संस्कृति के स्वरूप का निर्माण एक निश्चित काल-खण्ड में नहीं होता। इसके स्वरूप या किसी अंग के निर्माण में अनेक सदियाँ लग सकती हैं। प्रत्येक राष्ट्र की संस्कृति का विकास सतत् प्रवाहमान प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है। संस्कृति की जड़े इतिहास से जुड़ी होती हैं। संस्कृति से सम्बन्धित विविध अवधारणायें, एक-दूसरे से प्रभावित होती हैं। विश्व की कोई भी संस्कृति दूसरी संस्कृति से अप्रभावित नहीं है। संस्कृति का मूल स्वभाव ही आदान-प्रदान करने का होती है। संस्कृति की गतिशीलता और जीवन्तता का यहीं प्रमुख कारण है। जो संस्कृति आदान-प्रदान की प्रक्रिया से नहीं गुजर ती वह कालान्तर में मृतप्राय हो जाती है।

आदान-प्रदान के बाद भी प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक अलग सांस्कृतिक पहचान होती है। जब एक संस्कृति के लोग दूसरी संस्कृति के प्रभाव से बचने का प्रयास करने लगते हैं तो संस्कृति की गतिशीलता जो उसका श्रेष्ठ गुण है, नष्ट हो जाता है। संस्कृति राष्ट्र की जलवायु, प्राकृतिक परिस्थिति, भौतिक संरचना और भौगोलिक अवस्थिति से भी प्रभावित होती है। सम्पूर्ण भारत के अधिकांश संस्कृति और सभ्यता के केन्द्र या तो नदियों के किनारे हैं या समुद्र तट पर।

अर्वाचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक संस्कृति के निर्माता वहीं माने जा सकते हैं जो कला के सर्जक हों या समाज को दिशा देने वाले व्यक्ति। वास्तुकला, चित्रकला, नृत्यकला, संगीत, साहित्य और धर्म संस्कृति के मूलभूत अनुभाग हैं। इनमें से किसी दो का समन्वय संस्कृति के स्वरूप को निखारता है। रूढ़ और समय के अनुसार अप्रासंगिक हो गये सिद्धान्तों को तोड़े बिना नये एवं क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को नहीं जोड़ा जा सकता।

उपरोक्त वर्णन को केन्द्र में रखते हुए हम कह सकते हैं कि संस्कृति को व्याख्यायित और परिभाषित करना दुष्कर ही नहीं अपितु विरोधाभास पूर्ण कार्य है। परिभाषा तो किसी

वस्तु या तथ्य की सीमा निर्धारित कर देती है, किन्तु संस्कृति शब्द इतना गहन, सघन एवं विस्तृत है कि उसे किसी भी सीमा में बाँधकर परिभाषित कहीं नहीं किया जा सकता है। विषय क्षेत्र के विस्तार के कारण ही मानव जीवन के समस्त आचार-विचार इसके परिधि में आ जाते हैं। अधिकांश विद्वानों ने अपने क्षेत्र विशेष के अनुसार संस्कृति को परिभाषित करने का प्रयास किया है। इस लिए मैंने संस्कृति को परिभाषित नहीं अपितु व्याख्यायित करने का प्रयास किया।

मानवतावाद एक आधुनिक अवधारणा है परन्तु भारतीय संस्कृति के केन्द्र में अनादिकाल से मानव रहा है। यह मानव को किसी भी भेदकारी सीमा में नहीं बाँधती, धर्म में भले ही वर्ण एवं जाति के अनुसार स्थान निर्धारित किया जाता हो। संस्कृति के व्यापकता का यही कारण है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह जितना भी अशिक्षित और पिछड़ा हो उसे संस्कृति के परिधि से बाहर नहीं रखा जा सकता। यह अलग बात है कि उसका सम्बन्ध अभिजात्य संस्कृति से अधिक लोक-संस्कृति से हो सकता है। भारतीय संस्कृति का मूलाधार है 'वसुधैव कुटुम्बकम्'' का भाव। यह भावना जब व्यक्ति के अन्दर आती है तो अपना-पराया जैसे विचारों का समूल नाश हो जाता है। भारत वर्ष में प्रचलित किसी धर्म को जब मानव धर्म की संज्ञा प्रदान की जाती है तो उसका सम्बन्ध न सिर्फ मनुष्य तक अपितु जड़-चेतना की सत्ता से जुड़ा होता है।

चित्रकला—

चित्रकला कला के अन्य अनुभागों का दर्पण है। चित्रकला के द्वारा सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन मूल्यों को अभिव्यक्ति मिलती है। जीवन के प्रारम्भिक काल से ही चित्रकला के प्रति मानव की अभिरूचि जागृत हुयी। ऐसा प्रमाण पाषाण काल के अध्ययन

द्वारा आसानी से मिलते हैं जहाँ मनुष्य अविकसित चित्रों द्वारा अपने मन के भावों को व्यक्ति करने का प्रयास करता है।

प्राचीन काल में ही कला के इस क्षेत्र में अपूर्व प्रगति के लक्षण मिलने लगते हैं। भारत में चित्रकला को धर्माश्रय एवं राजाश्रय दोनों के संरक्षण में विकसित होने का भरपूर अवसर मिला। भित्तिचित्र एवं पाण्डुलिपियाणँ दोनों ही रूपों में चित्रकला की परम्परा विकसित हुई है। अजन्ता की गुफाओं द्वारा भित्तिचित्रकला अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँची। ये चित्र 200 ई० पूर्व के हैं जिनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। इसके द्वारा बौद्ध धर्म के लोकव्यापी होने एवं तत्कालीन समाज में कलाकारों की सम्मान जनक स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है। उसके बाद तो भित्तिचित्रों की एक सुदीर्घ परम्परा मिलने लगती है। जिसे बाघ, अलोरा, लीपाक्षी, सित्तनवासल, तंझबूर आदि स्थानों पर देखा जा सकता है।[8]

मध्यकाल के अनेक इतिहासकारों का मानना है कि सल्तनत काल में चित्रकला एवं मूर्तिकला को संरक्षण एवं प्रोत्साहन नहीं मिला। शासकों के धार्मिक दृष्टिकोण को इसके लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। लगभग सभी शासक इस्लाम धर्मानुयायी थे और इस्लाम एकेश्वरवादी हैं। सल्तनतकालीन चित्रकला और मूर्तिकला के क्षेत्र में अभी शोध एवं अध्ययन की आवश्यकता बनी हुयी है। क्योंकि लोकाश्रय और धर्माश्रय में तो इसका विकास होना चाहिए था। आधुनिक शोधकार्य से इन क्षेत्र में प्रकाश पड़ता है।

जबकि उत्तरी भारत में इस्लाम धर्मानुयायियों का शासन था जैन सौदागरों को कागज पर चित्रित पाण्डुलिपियां प्रस्तुत करने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। सौदागरों द्वारा इन्हें मन्दिर एवं मठ के पुस्तकालयों को भेट करना कला के संरक्षण में सराहनीय कदम माना जा सकता है।

इस काल में ऐतिहासिक एवं साहित्यिक कृतियों की चित्रित पाण्डुलिपियों के ईराक और फारस से निरन्तर आयात के साक्ष्य मिलते हैं। यह आयात कुलीन वर्ग द्वारा किया जाता था जिसका शासक वर्ग पर प्रभाव पड़ना निश्चित था। आठवीं सदी से चित्रकला के क्षेत्र में ह्रास आरम्भ हो गया था मगर तेरहवीं सदी में कागज के प्रयोग से इस क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। इससे चित्रकार को रंग के चुनाव में अधिक स्वतन्त्रता एवं सुविधा प्राप्त हुयी। काग़ज का प्रयोग ताड़ पत्रों, भोजपत्रों, एवं भितिचित्रों के अपेक्षा सस्ता और आसान था। कागज के प्रयोग से अभिव्यक्ति के क्षेत्रों को विस्तार मिला जिससे चित्रकला का सम्बंध निश्चित रूप से आम जन-जीवन से जुड़ा। कागज के प्रयोग ने रंग-योजना, रेखांकन, तथा सज्जा की बारिकियों जैसे अनेक कलात्मक सुधार भी किया।

अगर अमीर खुसरों के वक्तव्य पर विश्वास किया जाय तो शासक वर्ग के लोग चित्रकला के शौकीन होते थे। मूर्तियों को तोड़े जाने एवं चित्रकला (भित्तिचित्र) के मिटाने जाने को कुछ गिने-चुने प्रमाण मिल सकते हैं मगर इसका कारण राजनैतिक था न कि धार्मिक और सांस्कृतिक। इसी समय चित्रकला की एक समृद्ध परम्परा शीराज (ईरान) में विकसित हो रही थी। शीराज में विकसित चित्रकला की यह शैली चीनी कला से प्रभावित थी। कला को संरक्षण प्रदान करने वाले अनेक-प्रान्तीय राज्यों जैसे गुजरात, मालवा और जौनपुर में वहां से अनेक चित्रकार आये और उन्हें संरक्षण और सम्मान मिला। भारतीय एवं ईरानी शैली के सम्मिलन से चित्रकला को एक नयी दिशा मिली।[9]

कारण चाहे जो भी रहे हों सल्तनत काल में चित्रकला के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हो सकी। स्थापत्यकला कृतियों से जुड़कर चित्रकला यद्यपि कुछ कदन आगे बढ़ी मगर स्वतन्त्र रूप से इसका विकास पूर्ण अवस्था को नहीं प्राप्त हो सका। कला की अन्य विधाओं की तरह चित्रकला का भी विकास मुगल काल से ही माना जाना चाहिए।

मुगलवंश का संस्थापक बाबर कुशल योद्धा ही नहीं अपितु कला-प्रेमी और साहित्यकार भी था। कला के अन्तर्गत चित्रकला में उसकी विशेष रूची थी। इसी कारण 'तुजुक-ए-बाबरी' में वह चित्रकला की मुक्तकण्ठ में प्रशंसा करता है। बेहज़ाद और शाह मुजफ्फर जैसे चित्रकारों को वह संरक्षण एवं प्रोत्साहन देना चाहता था मगर समय के अभाव के कारण वह ऐसा नहीं कर सका।

बाबर का पुत्र एवं उत्तराधिकारी हुमायू कला और साहित्यानुरागी था। अमरकोट के किले में निर्वासित जीवन व्यतीत करते समय उसने एक फ़ाख्ता (पेड़क) पकड़ा और उसका चित्रकारों द्वारा अंकन करने को कहा। कठिनाइयों से घिरा होने पर भी उसने अपनी कलाप्रियता का प्रमाण अनायास प्रस्तुत किया। शेरशाह से पराजित होने पर वह ईरान में शाह तहमास्प के दरबार में शरण लिया। जहाँ उच्चकोटि के चित्रकार और कलाकारों की महफ़िल लगी रहती थी। हुमायूँ के संरक्षण में ही मंसूर और उसका पुत्र सैय्यद अठ्ठी ''दास्तान-ए-हमीर हम्ज़ा'' को चित्रित किया। यह चित्रण का कार्य काबुल में सम्पन्न किया गया। ऐसे ही अनेक कार्यों से प्रसन्न होकर वह मीर सैय्यद अली को 'नादिर-उल-अस्र' की उपाधि से विभूषित किया।[10] यहीं से मुगल कालीन चित्रकला की नींव मजबूत हुयी जिसका पूर्ण विकास जहाँगीर के काल में देखा जा सकता है।

चावल के दाने पर मीर सैय्यद और अब्दुल समद द्वारा चौगान के मैदान को चित्रित करना हूमायूँ काल की चित्रकला की प्रमुख उपलब्धि मानी जा सकती है। अशिक्षित होते हुए भी अकबर की कला और साहित्य के प्रति रूचि थी। हूमाँयू ने चित्रकार अब्दुल समद को 'शीरी कलम' की उपाधि से विभूषित किया। अकबर ने उसे सम्मानित ही नहीं किया अपितु मुल्तान का दीवान भी नियुक्त किया। इतना ही नहीं बल्कि अकबर ने समद से खुद चित्रकारी का ज्ञान भी प्राप्त किया था। अकबर का मानना था कि अच्छे चित्र द्वारा व्यक्ति

जीवन–दाता ईश्वर के विषय में सोचनें को मजबूर हो जाता है। अकबर चित्रकला को अध्ययन एवं मनोंरजन दोनों का साधन मानता था इसीलिए उसने चित्रकारों को सम्मान एवं संरक्षणे के साथ अन्य सुविधाएं भी प्रदान की। सभी चित्रकारों की कृतियाँ बिना किसी धार्मिक भेदभाव के प्रत्येक सप्ताह सम्राट के सामने प्रस्तुत की जाती थीं। बादशाह तटस्थ होकर चित्रों का मूल्यांकन करता और योग्यता के अनुसार पुरस्कार देता और कभी–कभी चित्रकारों के मासिक वेतन में वृद्धि भी करता था।[11]

अकबर ने अनेक ग्रन्थों को चित्रित करवाया जिसमें प्रथम एवं प्रमुख 'दास्ताने अमीर हम्जा' है जिसके चित्रण का प्रारम्भ हुमायूँ के काल में हो चुका था और उसको पूर्णता बादशाह अकबर के शासन काल में मिली। इसमें मानव, पशु, पक्षी, पृथ्वी आकाश एवं अन्य वस्तुओं का सजीव चित्रण है। इस प्रकार का चित्रण इस्लाम के वसूल के खिलाफ था मगर बादशाह ने इसकी कभी परवाह नहीं किया। तत्कालीन इतिहासकारों का मानना है कि इस प्रकार के चित्रण में काफी पैसा व्यय हुआ जिससे शासक वर्ग की कलाप्रियता एवं धार्मिक सहिष्णुता ही व्यक्त होती है।

एक ही तस्वीर पूरा करने के लिए दो या तीन चित्रकार लगाये जाते थे। कोई रूप–रेखा तैयार करता कोई रंग भरता कोई तो कोई चेहरा तैयार करना था। दूसरा चित्र बनाते समय इनके कार्य बदल जाते थे। इस बदलाव से चित्रकारों की उपलब्धता उनकी प्रतिभा दोनों का पता चलता है। मुगल कालीन कुछ शासक तो इतने प्रवीण थे कि किस चित्रकार ने कौन सा कार्य किया है इसे आसानी से पहचान जाते थे। जहाँगीर कईबार ऐसा दावा किया था। अकबर काल में चित्रकला को एक सुदृढ़ आधार तो मिला ही साथ ही उसमें सपाट द्वि–आयामी प्रभाव के स्थान पर त्रि–आयामी प्रभाव भी देखने को मिलता है।

अबुल फजल ने जिस सत्रह चित्रकारों का नामोल्लेख किया है उसमें से 13 हिन्दू थे। इन हिन्दूओं में भी कुछ निम्न जाति से सम्बद्ध थे। इनमें सबसे अधिक ख्याति दसवंत को मिली जो पालकी ढोने वाला कहार जाति का व्यक्ति था। यहाँ पर मुगल शासकों की धार्मिक सहिष्णुता ही नहीं अपितु निम्न जाति के प्रति उदार दृष्टिकोण का भी परिचय मिलता है।

जहाँगीर खुद एक कुशल चित्रकार एवं कलाकारों को संरक्षण और सम्मान प्रदान करने वाला शासक था। जहाँगीर का सबसे प्रिय चित्रकार अबुल हसन था। सिंहासनारोहण के अवसर पर जिसके द्वारा बनाये चित्र को बादशाह ने 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' के मुखभाग पर लगाया। जहाँगीर ने अबुल हसन को "नादिर-उज़-ज़मा" और मंसूर को "नादिर-उल-अस्र" की उपाधि से विभूषित किया। जहाँगीर कला की चित्रकला में सूक्ष्मता और वास्तविकता अकबर-काल से अधिक मिलती है। जहाँगीर काल में चित्रकला दरबारी और सामंती परिवेश से मुक्त होकर प्रकृति से जुड़ती है। जहाँगीर एक सौन्दर्य प्रेमी कलाकार एवं बादशाह था। इसलिए चित्रण में शिकार प्रकृति के अनेक रूपों के साथ विभिन्न प्रकार के दृश्यों का समायोजन न मिलता है। यथार्थता के साथ सजीवता का मणिकांचन संयोग इस काल की अन्य कलाओं में भी मिलता है। ऐसी ही अनेक विशेषताओं को केन्द्र में रखकर इस काल को चित्रकला का स्वर्णयुग माना जाता है।[12]

शाहजहाँ का काल स्थापत्य का स्वर्ण युग माना जाता है फिर भी जहाँगीर के समय चित्रकला की परम्परा सुदृढ़ हुयी वह जारी रही शाहजहाँ के काल के चित्रकारों में मोहम्मद फकीरुल्लाह प्रमुख है। मोहम्मद हासिम को इसका सहायक बनाया गया था। इनके हाथ में चित्रकार का कार्यभार था। इस काल में आकर चित्रकला की मूल प्रवृत्तियों में अनेक परिवर्तन लक्षित होता है। यहाँ पर चित्रों में स्वाभाविकता के स्थान पर सादृश्यता और कृत्रिमता मिलने लगती है। इस काल के चित्रों की एक खास विशेषता बार्डर

(किनारा) था जिसके अभाव में चित्र प्रायः अपूर्ण माना जाता था। किनारा प्रायः पुष्प या पशु–पक्षी सम्बन्धी चित्रों द्वारा सजाया जाता था।

औरंगजेब के काल में चित्रकला को राजकीय संरक्षण एवं प्रोत्साहन मिलना बन्द हो गया। जिससे अनेक चित्रकार राजधानी से बाहर प्रान्तीय शासकों अमीरों और बाजारों में चले गये। इस प्रकार चित्रकला राजदरबार से जनता के बीच आयी। इस प्रकार के परिवर्तन से कला को अभिजात्य संस्कारों से मुक्ति तो मिली मगर चित्रकारों का जीवन स्तर निश्चित रूप से गिरा होगा। परवर्ती चित्रों में न तो जहाँगीर काल की सहजता एवं सूक्ष्मता रही नहीं शाहजहाँ के काल का वैभव विलाश देखने को मिलता है।[13]

देश के विभिन्न भागों में चित्रकारों के फैलने से राजस्थान और पंजाब (पहाड़ी प्रदेश) में इस कला का विकास बड़े आकर्षक अंदाज में हुआ। राजस्थान में तो पहले से ही जैन शैली अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी। इन पूर्ववर्ती परम्पराओं का संयोग जब मुगल शैली से हुआ तो इसमें और चारूता आ गयी। राजस्थानी शैली में अभिव्यक्ति के मुख्य विषय शिकार दरबारी विश्लेषण के द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ अभिजात्य और जनमानस से जुड़े विषयों को बराबर महत्त्व प्रदान किया गया है। मुगलकालीन चित्रकला की भी यही मूल विशेषता है।

स्थापत्यकला—

साहित्य और कला समकालीन समाज की संवेदनाओं एवं प्रवृत्तियों में प्रतिबिम्ब होते हैं। कला के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा समकालीन सामाजिक यथार्थ को भी समझा जा सकता है। हमारे शास्त्रों में कलाविहीन पुरुष को पूँछ विहिन पशु (बंड) की संज्ञा प्रदान की गयी

है। कला का सम्बन्ध मात्र कलाकार से ही नहीं होता अपितु उसका गहरा लगाव आम जनता एवं शासक वर्ग से भी होता है।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि मध्यकालीन वास्तुकला और चित्रकला के क्षेत्र में अभी भी अनुसंधान की आवश्यकता है। इसकाल की वास्तुकला का अवलोकन न सिर्फ सौन्दर्यवादी अपितु समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी होना चाहिए। मध्यकालीन भारत में कृषि अधिशेष किस क्षेत्र में लगाया गया इसकी जानकारी भी वास्तुकला एवं चित्रकला के साथ अन्य कलाओं के अध्ययन से प्राप्त की जा सकती है। अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप और प्रौद्यौगिकी पर भी कलात्मक स्रोतों द्वारा प्रकाश पड़ता है।[14]

सल्तनत काल युद्धों एवं संघर्षों का काल रहा है। इस काल में कृषि एवं व्यापार से प्राप्त होने वाली अधिकांश अधिशेष युद्धों पर ही व्यय हुआ। हथियार और घोड़ों पर अधिक धन का व्यय किया गया। इसीलिए कला के अन्यक्षेत्रों का विकास मुगल काल की तरह नहीं हो सका। सल्तनत काल की इमारतों के निर्माण में सौन्दर्य की अपेक्षा मजबूती को अधिक महत्व प्रदान किया गया। इनको देखने से ऐसा लगता है कि इनका निर्माण जल्दबाजी में किया गया है।

तुर्की शासक वर्ग नगरों की स्थापना अपने को ऐतिहासिक सिद्ध करने एवं व्यापारिक लाभ के लिए करता था। जहाँ पर शासन से जुड़े अन्य सभी लोगों का निवास होता था। शहरों में निवास करने का एक और कारण हो सकता है कि गाँव की सामाजिक व्यवस्था आज से अधिक जटिल और संकीर्ण ती। कृषि एवं व्यापार का अधिकांश अधिशेष शहरों में व्यय होता था। ये शहर उत्पादन और प्रौद्यौगिकी विकास के ही केन्द्र नहीं हुए अपितु

सांस्कृतिक समन्वय के स्थल भी बने। इसीलिए मस्जिद, मदरसे एवं खानख्वाह के साथ किलों का भी निर्माण शहरों में किया गया।

इस्लाम के आगमन के पूर्व की स्थापत्य शैली को हमारे इतिहासकारों द्वारा 'शहतीरी शिल्प-कला' नाम प्रदान किया गया है। शहतीरी शिल्प की प्रमुख विशेषता खड़ी और आड़ी रेखाएँ थीं जो कि स्तम्भों पर कोष्ठकों की सहायता से बनायी जाती थीं। तकनीकी साधनों की अनुपलब्धता के कारण इस शैली को अपनाना भारतीय शिल्पकारों की मजबूरी भी थी। मन्दिर का प्रत्येक भाग विविध प्रकार की सजीव वस्तुओं द्वारा अलंकृत रहता था। इस्लामी स्थापत्य कला को 'मेहराब कला' के नाम से जाना जाता है। 'मेहराब' और 'गुम्बद' इस कला की प्रमुख विशेषता है। इनके भवनों की छत-रेखा में स्पष्टता और वैशिष्ट्य देखने को मिलता है। मध्य एशिया के स्थापत्य की प्रमुख विशेषता सादगी है। जो कि इस्लाम की स्थापत्य कला के केन्द्र में हैं। यह विशेषता उसकी प्रारम्भिक अवस्था की आवश्यकता रही होगी। इस्लाम धर्म 'निरंकार' में विश्वास रखता है। इसीलिए उनके यहाँ ज्यामितीय चित्रों का प्रचलन मिलता है। कला को संरक्षण प्रदान करने वाले धर्मनिरपेक्ष सुल्तानों द्वारा सजीव वस्तुओं के चित्रण का भी प्रमाण मिलता है। जिन प्रदेशों में बलुआ पत्थर की कमी थी ऐसे स्थानों की इमारतों में रंगीन टाइल्स और संगमरमर के प्रयोग का प्रमाण मिलता है।[15]

इन दोनों स्थापत्य शैलियो में प्रारम्भ में टकराव फिर समन्वय के पथ पर चलने का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार एक नवींन शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें दोनों की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ समाहित हैं। एक की मजबूती तो दूसरे (इस्लाम) की सौन्दर्य प्रियता। इतना ही नहीं शैलियों में कहीं-कहीं स्थानीय और क्षेत्रीय प्रभाव भी मिलता है।

मध्यकालीन संस्कृति के अन्य तत्वों की तरह स्थापत्य कला भी धर्म से प्रभावित थी चाहे वह भारतीय हो या इस्लामी। भारतीय स्थापत्य कला को 'मांगलिक कला' का दर्जा प्रदान किया गया है। इस कला में प्रयुक्त प्रतीक-पद्म, चक्र, स्वस्तिक, और शिखर पर जड़ीत आमल और कलश के विशेष सन्दर्भ और अर्थ धर्मआधारित थे। हिन्दू वास्तुकला पर लोकशैली और क्षेत्रियता का प्रभाव है तो राजनीति और दरबारी संस्कृति से मुक्ति थी।

भारतीय धर्म की भाँति ही स्थापत्य कला का विकास भी क्रमबद्ध है। इसके विकास के अनेक चरण हैं तो प्रेरणा के विभिन्न स्रोत हैं। भारतीय संस्कृति की तरह कला ने भी अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का निर्माण किया है। भारतीय स्थापत्य कला के विकास के प्रत्येक सोपान में समन्वयवादिता की प्रवृत्ति मिलती है। मध्यकाल में यह प्रवृत्ति अपने चरमसीमा पर है। इस कारण भारतीय स्थापत्य कला पर मध्यकाल में विदेशी संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भारतीय स्थापत्य कला ही नहीं अपितु ललितकला का सम्पूर्ण क्षेत्र 'सत्यं शिवं सुन्दरं' से सदा प्रेरणा प्राप्त किया है। मध्यकालीन वास्तु कला में कल्पना और वास्तविकता का समुचित समन्वय है। इस काल की स्थापत्य कला के प्रेरणा स्रोतों में धर्म की प्रधानता रही है।

मन्दिर निर्माण की भारतीय कला राजपूत काल में ही चमोत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। स्थापत्य के क्षेत्र में मन्दिर एवं मस्जिद निर्माण की कला का विशेष महत्व है क्योंकि अनादि काल से धर्म आम जनता को ही नहीं अपितु शासक वर्ग को भी प्रभावित करता रहा है। इस प्रकार मन्दिर और मस्जिद सम्पूर्ण जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति के साधन थे तो जीवन केन्द्र भी। ये स्थल तीर्थ के ही नहीं अपितु वाणिज्य और समझौता के भी केन्द्र थे। कुछ राजाओं ने तो मन्दिरों में धन का संचय भी किया जो कि अनेकों आक्रमणकारियों के लिए प्रलोभन का कारण बनें। मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य को धार्मिक और लौकिक जैसे

दो कृत्रिम साँचे में ढाल कर समीक्षा करना अनुचित लगता है। क्योंकि खानकाह, मस्जिद ही नहीं अपितु गुरुद्वारे भी समाजिक गतिविधियों के केन्द्र थे। भारी संख्या में लोग यहाँ पर एकत्रित होते थे ये इसीलिए इन भवनों के बीच एक विशाल खुला आँगन भी अधिकांश स्थलों पर देखने को मिलता है। इस काल के लगभग सभी भवन शासकीय संरक्षण और प्रश्रय में निर्मित हैं इसलिए इसमें सम्राटों की रूचि और पसंदगी भी साफ झलकती है। प्रत्येक राजवंश अपनी विशिष्टता को प्रतिष्ठित करने के लिए नये भवनों का निर्माण कार्य कराता था।[16]

यह अविस्मरणीय तथ्य है कि इस काल के भवनों में किसी भी साम्प्रयादायिक रूप (हिन्दू परम्परा या इस्लाम परिपाटी) को स्थापित करने का पूर्वाग्रह नहीं मिलता है। कालाकारों ने जिन युक्तियों और प्रविधियों को कलात्मक दृष्टि से आवश्यक माना उसका प्रयोग बेझिझक किया। शासकों की इच्छा कलाकारों के प्रतिभा पर न तो कभी प्रश्न-चिन्ह लगायी और न ही उनकी कला का मूल्यांकन धर्मान्धता के आधार पर किर गया। इसके अपवाद मिल सकते हैं जो कि इस्लाम में ही नहीं अपितु सभी धर्मों में है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सम्पादक-शिवकुमार गुप्त, मध्यकालीन भारत का इतिहास (1000-1526) पृष्ठ संख्या - 306, प्रथम संस्करण-1999, पंचशील प्रकाशन, जयपुर।

2. सम्पादक-हरिशचन्द्र वर्मा, "मध्यकालीन भारत (750-1540 ई०)", पृष्ठ संख्या -59, तृतीय संस्करण 1997, "हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय"।

3. पृष्ठ संख्या - 384, शेष वही।

4. पृष्ठ संख्या - 385, शेष वही।

5. पृष्ठ संख्या - 386, शेष वही।

6. डा० लईक अहमद, "मुगलकालीन भारत (1526-1740)", पृष्ठ संख्या-313, संशोधित संस्करण-2002, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

7. पृष्ठ संख्या - 315 तथा 316, शेष वही।

8. सम्पादक-हरिश्चन्द्र वर्मा, "मध्यकालीन भारत (750-1540 ई०)", पृष्ठ संख्या-470, तृतीय संस्करण 1997, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।

9. सतीश चन्द्र, "मध्यकालीन भारत सल्तनत से मुगलों तक-भाग दो" पृष्ठ संख्या-448, प्रथम संस्करण-2001, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

10. लईक अहमद, "मुगलकालीन भारत", पृष्ठ संख्या-362, संशोधित संस्करण 2002, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

11. पृष्ठ संख्या –363, शेष वही।

12. पृष्ठ संख्या – 364 तथा 365, शेष वही।

13. पृष्ठ संख्या – 366, शेष वही।

14. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत (750–1540 ई०), पृष्ठ संख्या –461 तृतीय संस्करण–1997, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।

15. पृष्ठ संख्या – 463, शेष वही।

16. पृष्ठ संख्या – 464, शेष वही।

अध्याय - 3

भक्ति आन्दोलन और नारी : समाजशास्त्रीय अवलोकन

यह सर्वविदित है कि भक्ति-आन्दोलन की शुरूआत दक्षिण भारत में हुई। प्राचीनतम वैष्णव आलवारों में सात ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, दो शूद्र और एक निम्न जाति 'पनर' के थे। इनमें एक महिला आंदाल भी थी । शूद्र और महिला की सहभागिता इस बात को प्रमाणित करती है कि इस आन्दोलन का प्रारम्भ ही वर्णव्यवस्था और नारी-पुरुष के भेदभाव को तोड़ने वाला था। इतना ही नहीं अपितु विष्णु का अवतार माने जानेवाले शठकोप भी शूद्र थे।

भक्ति आन्दोलन के आधार स्तम्भों में रामानुजाचार्य का नाम आता है। कहा जाता है कि ये दिल्ली पति यवन के यहाँ से एक भगवन्मूर्ति लाकरउसे मन्दिर में प्रतिष्ठित किये। उस बादशाह की लड़की भी भक्त हो गयी। इसके अतिरिक्त एक स्त्री भक्त विषयी को भीअपनी शिष्यता प्रदान किये । ऐसी किंवदतियां इस आन्दोलन की धार्मिक उदारता, और लोकोन्मुखता को सिद्ध करती हैं। आंडाल और मीरा की प्रसिद्धि इस बात को प्रमाणित करती है कि इस आन्दोलन में नारी का सम्मान और योगदान था।

सामंती व्यवस्था और नारी पराधीनता - इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भक्ति-आन्दोलन के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए मध्यकालीन समाज में शूद्रों एवं नारी की स्थिति को जानना आवश्यक है। द्विज और शूद्र की स्थिति में जितनी असमानता थी उतनी ही पुरुष और स्त्री में भी। प्राचीन कबीलायी समाज के विखण्डन एवं सामंती व्यवस्था के उदय के बीच ही वर्णाश्रम व्यवस्था उत्पन्न होती है। यहाँ पारिवारिक सम्पत्ति

का स्वामी पुरुष होता है। वह व्यापार करता है शास्त्र रचता है और युद्ध भी करता है। इस प्रकार सम्पत्ति और संरक्षण का दायित्व पुरुष के हाथ में रहता है स्त्रियाँ कृषि के आसान कार्यों बागबानी, और घरेलू कार्यों तक सिमट कर रह जाती हैं। निम्न वर्ग में जहां स्त्री–पुरुषों के साथ काम करती हैं वह द्विजवर्ण की देवियों की तुलना में अधिक स्वतंत्र और समर्थ होती है। सामंती व्यवस्था जितनी स्थायी होगी वर्ण और स्त्री पुरुष का भेद उतनी ही जड़ होगा।

भक्ति आन्दोलन नारी और शूद्र दोनों को सामंती एवं वर्णव्यवस्था से बाहर आने का निमंत्रण देता है भक्ति के धरातल पर नारी और पुरुष में कोई अन्तर नहीं। वर्ण-व्यवस्था उच्च वर्ग की नारी को घर से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं दे सकती थी मीरा के जीवन का यही सामाजिक संघर्ष था। यदि वह निम्न वर्ण से सम्बद्ध होती तो उनके सतसंगति से रूढ़िग्रस्त समाज इतना कुपित और क्षुब्ध न होता । भक्ति - आन्दोलन वास्तव में ज्ञान की आँधी था जो राणाकुल की विधवा बहू को घर की चाहारदीवारी से निकाल कर आमजन में प्रतिष्ठित करता है।

भक्ति–आन्दोलन की आधारभूत परिस्थितियों का अनुसंधान समाजशास्त्रीय दृष्टि से होना ही चाहिए। इस्लाम धर्मानुयायी अपने साथ मतवाद, सैनिक हथियार तो लाये ही उसके साथ तकनीकी ज्ञान एवं व्यापारिक सुव्यवस्था भी लाये। विदेशी शासकों की सत्ता स्थापित होने पर चौदहवीं शताब्दी में विलासिता से सम्बन्धित सामग्री की माँग बढ़ी। जिससे परम्परागत कला का विकास तो हुआ, साथ में नयी तकनीकों एवं कारखानों का उदय भी हुआ। जिससे गुम्बदों , मेहराबों, कागज, घोड़े की नालें, रकाबों आदि का निर्माण होने लगा। ऐसे परिवेश में व्यापारियों, शिल्पियों एवं जाटों का उत्थान निश्चित है। आर्थिक उत्थान

के साथ सामाजिक चेतना आना स्वाभाविक है। यही कारण है कि हर वर्ग से सन्तों एवं भक्तों का आना प्रारम्भ हुआ।

अब इस बात को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि भारतीय समाज परिवर्तनशील रहा है जाति भी आर्थिक स्थिति के अनुसार ऊपर नीचे के वर्णों में आती जाती रही है। मध्यकाल के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यह मानना पड़ेगा कि "जाति एक बन्द वर्ग" नहीं है अपेक्षाकृत गत्वर है यह जाति प्रथा के परिवर्तनशीलता का वास्तविक स्वरूप है। परन्तु वर्णव्यवस्था के ढाँचे में इससे कोई परिवर्तन नहीं आता । उदाहरण स्वरूप "तांती" जाति को लिया जा सकता है। इस जाति के लोग ऊपर जाके कायस्त और शर्मा बन बये तो अन्य वयनजीवी जातियों को "अवर्ण" समझकर उससे रोटी और बेटी का सम्बन्ध तोड़ लिये। अतः इस बदलाव से कोई संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हुआ।

दक्षिण भारत में वैष्णव आन्दोलन के प्रवर्तन की पृष्ठभूमि में भी समाजार्थिक कारण तो थे ही वहाँ भी शूद्रों, शिल्पियों, व्यापारियों की स्थिति में थोड़ा सुधार हो चला था। दूसरी शताब्दी से ही कई शताब्दियों तक राजसत्ता अनेक पराक्रमी राजवंशों के हाथ में रही । विदेशी बन्दियों को निर्माण एवं उद्योग के क्षेत्र में लगाने से शासक वर्ग को अतिरिक्त आय प्राप्त होती थी। सर्वतोमुखी आर्थिक विकास के लिए व्यापार एवं उद्योग की उन्नति आवश्यक है आय के श्रोत अधिक होने पर कर की दर कम रखने से भी शासन व्यवस्था का खर्च आसानी से निकल जाता है।

दक्षिण भारत की आध्यात्मिक एवं आर्थिक उन्नति में कांचीपुरम का विशेष स्थान है। पल्लव एवं चोल काल के स्थापत्य एवं चित्रकला इस बात को प्रमाणित करते हैं।

कांचीपुरम के बुनकरों को स्थानीय मंदिर की वित्तीय देखरेख का कार्य दिया गया था। ऐसे कार्यों से वैश्यों, व्यापारियों एवं शिल्पियों के सम्मान में अवश्य वृद्धि हुई। कांची पुरम में ही रामानुज की भेंट अपने शूद्र गुरु कांचीपूर्ण से हुई।

वर्णव्यवस्था का प्रसार होने पर आदिम जातियाँ जब इस व्यवस्था में आयीं तो उन्हें शूद्र के दर्जे में रखा गया। परन्तु ये लोग कृषिकार्य के कारण समृद्ध भी थे। जिससे इनकी स्थिति शूद्रों की तुलना में बेहतर रही। ऐसी जातियों में उत्तर भारत की जाट जाति आती है। इसी प्रकार की आदिम जातियाँ दक्षिण भारत में भी रही होंगी। दक्षिण भारत के सामाजिक इतिहास को अभी भी अनुसंधान की आवश्यकता है। समृद्ध एवं अवर्ण कृषिकर्मी जाति का भी भक्ति आन्दोलन के मूल में होना स्वाभाविक है।

कांचीपुरम् शिल्पियों एवं व्यापारियों का तो केन्द्र था ही साथ में राजधानी भी। आलवारों में एक महिला, एक अंत्यज और दो शूद्र का होना, रामानुज के गुरु एवं मित्र दोनो शूद्र थे— इन सबको परस्पर सम्बद्ध करके ही देखा जाना चाहिए। "इन सबने उस परम लोकवादी आन्दोलन के प्रवर्तन में योगदान किया जो धर्म के सहारे निम्न वर्ण दीन-दुःखी, शोषित, उपेक्षित और नारी को भावात्मक धरातल पर अन्यों के समकक्ष घोषित करता है।"[1]

परलोक में स्थान पर इहलोक को महत्त्व देना ही इस आन्दोलन की आध्यात्मिक एवं सामाजिक भावभूमि है। यहाँ पर लोक चिन्ता एवं सामाजिक यथार्थ को विचारधारात्मक स्वीकृति मिलती है। ऐसी परिस्थितियों में चिंतन, दर्शन और धर्म का केन्द्र अमूर्त ब्रह्म नहीं हो सकता। रामानुज की विचारधारा पर आलवारों के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। रामानुज को इस बात का श्रेय दिया ही जाना चाहिए कि उन्होंने आलवारों की साधना को आन्दोलन में परिवर्तित कर दिया । रामानुज ने जो कार्य

दक्षिण भारत में किया लगभग तीन शताब्दी बाद वही कार्य उत्तर भारत में रामानन्द ने किया। इन शताब्दियों के अन्तर के पीछे विचारधारा और परिस्थिति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

यह सर्वविदितहै कि भक्ति का शास्त्र दक्षिण से आया मगर उत्तर भारत में आने पर वह उतना शान्त और स्निग्धनहीं रह सका। उत्तर भारत के निर्गुण पंथ का सानिध्य पाकर वह आक्रामक, विद्रोही और खरा हो गया। इसके लिए सिर्फ विदेशी आक्रमणकारियों एवं शासक को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता इसके लिए नाथ-सिद्धों का आत्मविश्वासी और वर्णव्यवस्था विरोधी तेवर पहले से विद्यमान था। नाथों की हठयोग साधना और कबीर की अक्खड़ता का मेल पहली बार उत्तर भारत में हुआ। भक्ति आन्दोलन उत्तर भारत में ही आकर इस्लाम और सूफी मत से सम्पर्क साध पाता है। शूद्र गुरु कांचीपूर्ण से उपदेश लेने वाले रामानुज भी जाति एवं खान पान में भेद-भाव के उतने विरोधी नहीं थे जितने कबीर या अन्य सन्त । वैचारिक स्तर पर तो रामानुजाचार्य कहीं-कहीं वर्णव्यवस्था के सम्पर्क एवं विरोधियों के मध्य स्थित दिखलायी पड़ते हैं। रामानुज जी को इस बात का श्रेय तो दिया जाना चाहिए कि भक्ति के लिए उन्होंने पुरोहित की आवश्यकता को महत्त्वहीन बताया।

भक्ति आन्दोलन के पुरोधाओं ने भक्ति के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था को व्यर्थ बताकर उसके सामंत विरोधी रूप को प्रकट किया। यह आन्दोलन सभी प्रकार की संकीर्ण मतवादिता से ऊपर इतना व्यापक था कि उसमें हिन्दू-मुसलमान, अमीर-गरीब एवं स्त्री-पुरुष दलित सभी अट सकें। उत्तर भारत में इस आन्दोलन को लोक एवं लोकभाषा से जोड़ने का अभूतपूर्व कार्य रामानन्द ने किया यह बात ध्यान रखने की है कि रामानन्द अपने मूल संप्रदाय से खान-पान के प्रश्न पर ही अलग हुए थे। इनके शिष्यों में कबीर जुलाहा, पीपा

राजपूत, धन्ना जाट, सेन नाई, रैदास चमार थे, मध्य काल क्या आधुनिक काल में भी किसी ब्राह्मण गुरु द्वारा इस प्रकार निम्न जातियों को शिष्यता प्रदान करना लोकवादी कार्य माना जा सकता है। यह तथ्य भी स्मरण रखना होगा कि आपके शिष्यों में नाई, जुलाहा, चमार ही नहीं थे अपितु पद्मावती और सुरसुन्दर के साथ उसकी घरवाली भी थी। शूद्र और नारी की दृष्टि से आलवारों की पुनरावृत्ति हुई। रैदास चमार थे। उनके गुरु ब्राह्मण और उनकी शिष्या मीराबाई सिसोदिया वंशी उदयपुर के इतिहास प्रसिद्ध राणा सांगा की पुत्र-वधू थीं। उपरोक्त सारे तथ्य इस आन्दोलन की लोकोन्मुक्ता को ही व्यक्त करते हैं।

नामादास आधुनिक युग में भी सबसे नीची समझी जाने वाली जाति डोम से सम्बन्धित थे। ये तुलसी के समकालीन और उनके मित्र होने के साथ रामभक्ति शाखा के प्रमुख जीवनीकार भी थे। "भक्तमाल" में जिस ढंग से सन्तों का जीवन वृत्त प्रस्तुत किया गया है उससे लगता है कि ये अवर्ण ही थे। जहाँ तुलसी को तत्कालीन ब्राम्हण वर्ग से उपेक्षा मिली वहीं नामादास जैसे डोम उनके प्रशंसक मित्र मिलते हैं रैदास काशी के चमार थे उनकी शिष्या झाली चितौरगढ़ की रानी थी। भक्ति-आन्दोलन में पहली बार जाति के बन्धन को तोड़कर प्रतिभा को सम्मान एवं आदर मिला। दूसरी ओर सामंती एवं वर्णव्यवस्था के पोषकों द्वारा उनका विरोध भी हुआ। जुलाहे कबीर का ऐसा प्रभाव थ कि कुछ ब्राह्मण भी उनकी शिष्यता ग्रहण किये। निम्न जाति से शिष्यता ग्रहण करने के कारण उन्हें मार्मिक कष्ट समाज द्वारा मिला। तत्वाजी और जीवाजी नामक इन शिष्यों के पुत्रों की शादी अन्य ब्राह्मणों ने रुकवा दिया। "कबीर ने जो समाधान किया वह किसी और के बस का नहीं था- वह समाधान कबीर ही कर सकते थे- तुम्हारे दोनों भाइयों के एक-एक कन्या, एक एक पुत्र हैं सो आपस में विवाह कर दो, इसमें कोई बुराई नहीं है।"[2]

गुजरात से नरसी मेहता सपरिवार इस आन्दोलन में सहभागी हुए। इनकी दो कन्याएं थीं- कुँवरसेना और रतनसेना । बड़ी कन्या पति को तजकर पितागृह को स्वीकार किया तो दूसरी ने विवाह ही नहीं किया। नारी के प्रति नरसी मेहता का दृष्टिकोण इतना उदार था कि जूनागढ़ की निम्न जाति की दो गायिकाएँ केशमुंडा कर उन्हीं के पास रह गयी। राजा के बुलाने पर ये चारों महिलाओं के साथ नाचते गाते हुए राज दरबार में पहुँचे । जिससे दरबारी मर्यादा भंग हुई और देवत्त्व के सिद्धान्त को चुनौती मिली। "राजा ने प्रश्न किया : 'यह कौन सी रीति है कि तुम स्त्रियों को अपने पास रखते हो? नरसी बोले: 'तुम भक्ति की गन्ध से दूर हो पोथी पढ़े हो लेकिन बुद्धि पर घूल पड़ी है।' शुकदेव ने मथुरावासी भंङ्ग (पति कासाथ छोड़ने वाली) स्त्रियों की प्रशंसा की है या नहीं?"[3]

ब्राह्मण होते हुए नरसी एक साथ ब्राह्मण वादी व्यवस्था, सामंतीव्यवस्था एवं सामाजिक मान्यता पर प्रहार किये। पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर पुत्रियों एवं शिष्या के साथ जैसा उनका सम्बन्ध था आधुनिक युग में भी साहसिक माना जायेगा।

आलवारों की परम्परा उत्तर भारत में आकर पुष्पित और पल्लवित होती है। अवर्ण एवं नारी की सहभागिता हमेशा बनी रही। भक्तमाल एवं वार्ताग्रन्थ भी इसकी प्रमाणिकता को स्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में वैष्णव ग्रन्थ के शीर्षकों का नामोल्लेख किया जा सकता है- 'नरहरदास गोड़िया की वार्ता' , 'यादवेन्द्र दास कुम्हार की वार्ता', गोपीनाथ ग्वाल की वार्ता', 'सूतार कारीगर की वार्ता,' 'कुनबी पटेल की वार्ता', 'धोबी कलावत की वार्ता', 'एक वेश्या की वार्ता, एक वेश्या की बेटी की वार्ता', 'सावक (जुलाहा) की बेटी की वार्ता', 'एक कुजरी (कुंजड़िन) की वार्ता', । अवर्णों एवं गृहस्थ नारी की सहभागिता से चलने वाला यह प्रथम धार्मिक आन्दोलन था जिसके कारण समाज के रुढ़िग्रस्त लोगों द्वारा तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा ।

परिवार एवं दाम्पत्य जीवन का प्रारम्भ ही नारी पराधीनता एवं शोषण से होता है इस आन्दोलन के अनेक महापुरुषों ने नारी को पारिवारिक जीवन से दाम्पत्य के बन्धन से मुक्ति की प्रेरणा दी। कबीर एवं नामदेव का जन्म तथा तुलसी का पालन-पोषण असामान्य परिस्थितियों में हुआ। यह विचारणीय तथ्य है कि इतने प्रवादों के बाद भी उन्हें सम्मान कैसे मिला – चमार डोम एवं जुलाहे को सन्त और गुरू मानना आधुनिक समाज में भी सामान्य नहीं लगता तो मध्यकालीन समाज व्यवस्था ने इसे किस प्रकार स्वीकार किया होगा? यह आन्दोलन धार्मिक क्षेत्र में ही सही नारी को पुरुष का सहधर्मिणी बनाकर सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। उसे मात्र वंश विकास और शारीरिक विलास का साधन नहीं मानता। समूचे हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल को छोड़कर भक्ति-आन्दोलन में कवयित्रियों की संख्या सबसे ज्यादा है। भक्तमाल के एक छप्पन में 'कलियुग युवतीजन भक्त' का उल्लेख मिलता है जिसमें 20 से अधिक भक्त कवयित्रियों का नाम है। यह अपूर्ण सूची केवल हिन्दी प्रदेश से सम्बन्ध रखती है इसकी अपूर्णता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है। कि इसमें मीरा एवं सहजोबाई जैसे प्रसिद्ध युवतीजन भक्त का नाम तक नहीं।

> "सीता, झाली, सुमति, शोभा, प्रभुता, उमा भटियानी
>
> गंगा गौरी कुंवरि उबीठा, गोपाली गणेश दे रानी
>
> कला लखा कृतगढ़ौ, मानमती, शुचि सतिभामा
>
> यमुना, कोली, रामा, मृगा, देवा, दे, भक्तन विश्रामा
>
> जुगजजेवा कीकी, कमला, देवकी, हीरा, हरिचेरी पोषे भगत
>
> कलियुग युवती जन भक्त राजमहिमा सब जानै जगत ।"4

आधुनिक काल से पूर्व हमारे समाज में इतिहास एवं साहित्य के संरक्षण के प्रति रूचि का अभाव मिलता है सत्ता विरोधी साहित्यिक साक्ष्यों को नष्ट करने की अनेकों घटनाएं भारतीय वाङ्गमय झेल चुका है बौद्ध धर्म एवं भक्ति आन्दोलन धार्मिक ही नहीं अपितु राजनैतिक पाखंड पर भी प्रश्न-चिन्ह खड़ा करता है। ऐसी परिस्थितियों में कलियुग युवतीजन भक्तों की संख्या और अधिक होना स्वाभाविक हैं। इनके व्यक्तित्व और कृत्तित्व के विषय में जानकारी के अभाव के मूल में भी उपरोक्त कारण ही रहे होंगे। इस आन्दोलन मे तो उन नारियों को भी सहभागिता मिली जिन्हें हेय व तुच्छ समझा जाता था। जैसे वेश्या, कुंजड़िन और गानेवाली (नरसी मेहता के सन्दर्भ में) । कबीर, नरसी एवं नामदेव जैसे भक्तों को भक्ति के अनुसार आचरण करने पर सामंती व्यवस्था के उपसकों से संघर्ष झेलना पड़ा। चूँकि मीरा, सहजो, झाली नारी थी इसलिए इन लोगों का संघर्ष जटिल और वैविध्यपूर्ण था।

भक्तिकाव्य की भावभूमि को समझने के लिए तत्कालीन समाज की रीति को जानना जरूरी है तो रीति–नीति को समझने के लिए स्त्रियों की दशा को जानना परमावश्यक है । केरल जैसे कुछ क्षेत्रों और कतिपय कबायिली जनजातियों को छोड़ दे तो हिन्दुस्तान के अधिकांश भागों में परिवार पितृसत्तात्मक था। पितृसत्तात्मक व्यवस्था को धर्म एवं शासन दोनों संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष और परोक्ष समर्थन था। सामंती व्यवस्था में उपभोक्ता और श्रमिक के बीच जैसा अन्तर होता था, वाह्य रूप से दोनों वर्ग की स्त्रियों में भी ऐसा ही अन्तर था। मगर भावनात्मक और शारीरिक स्तर पर उच्च वर्ग की स्त्रियों का अधिक शोषण होता था। सामंतों और राजघरानों की स्त्रियों को शिक्षा एवं ऐशो–आराम की सुविधा तो थी मगर उनको हर जगह आने जाने और सबसे मिलने जुलने की छूट नहीं थी। निम्न वर्ग की स्त्री भले ही दिन भर परिश्रम करती थी, सुविधा विहीन जीवन यापन करती थी मगर उच्च वर्ग की अपेक्षा उसे कुछ अधिक छूट थी।

उच्च वर्ग की चन्द स्त्रियों ने अपनी प्रतिभा के बल पर शासन में सक्रिय भूमिका निभायी। इस वर्ग की अधिकांश स्त्रियों की दुनियाँ हरम तक ही सीमित रहती थी सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा और बहुपत्नी प्रथा जैसी अनेक कुरीतियों का सम्बन्ध उसी वर्ग से रहा है अनेक मुगल शासकों ने सती-प्रथा कोरोकने का प्रयास किया। मगर वे सफल नहीं हो सके। अकबर जैसा लोकप्रिय और शक्तिशाली शासक भी इसे नहीं रोक पाया। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि भारतीय समाज व्यवस्था और स्त्रियों की दशा पर हिन्दू विधि नियमों का अधिक प्रभाव था, दिल्ली के शासकों का कम। अकबर की विवाह नीति के सन्दर्भ में सतीश चन्द्रा का कहना है —"अकबर ने लड़के और लड़कियों के विवाह की उम्र निर्धारित करने, लड़कियों को माता पिता के दबाव में नहीं बल्कि अपनी मर्जी से शादी करने की छूट देने की कोशिश की।"[5] उसकी यह कोशिश मध्यकाल क्या आधुनिक युग में भी सफल हो जाय तो निश्चित रूप से स्त्रियों की दशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा।

रानी के साथ दासियाँ भी सहवास और सती होने के लिए मजबूर की जाती थीं। निम्नवर्ग की स्त्रियां अगर उच्चवर्ग का ऐसा सानिध्य नहीं पाती तो उनके सामने यह विवशता भी नहीं होती। मध्यकाल का अधिकांश समाज कृषि और मजदूरी पर निर्भर था। जहाँ स्त्रियों का जीवन कठिन परिश्रम के साथ व्यतीत होता था। मुगलकाल के कुछ चित्र इसकी प्रमाणिकता को सिद्ध करते हैं, जहाँ कुछ औरतों को बच्चे को सँभालते हुए भवननिर्माण के कार्यों में संलग्न दिखाया गया है। अत्याचार की सीमा यहीं तक नहीं थी, परिश्रम के बाद भी स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी दी जाती थी। इतने अत्याचार और भेदभाव के बाद भी स्त्रियों ने कुछ शिल्पों में विशेषज्ञता हासिल कर ली थी। ढाका के मलमल और अवध के चिकन को विश्व प्रसिद्ध करने का श्रेय स्त्रियों की तेज नजर और सिद्ध उंगलियों को ही जाना चाहिए। इसके साथ हमें अमानवीय व्यवस्था के उस

स्वरूप को भी नहीं भूलना चाहिए जहां "ऐसी सभी स्त्रियाँ व्यापारियों या उस्तादों के कठोर नियंत्रण में काम करती थीं।"[6]

वर्ग-वर्ण-व्यवस्था के आरम्भ से ही स्त्री को पुरुष का आश्रित माना जाता था,उनका जीवन ऐसी ही स्थिति में गुजरता भी था। हिन्दू विधिशास्त्र के अनुसार उम्र के साथ उसका संरक्षक भी बदलता रहा है। उच्चकुल की पत्नियों को पर्दा एवं सौतिया डाह के अन्दर जीवन व्यतीत करना पड़ता था। दूसरी ओर निर्धन परिवार की औरत को आजीवन कठोर श्रम करना पड़ता था। पारिवारिक जीवन में पुत्र उत्पन्न होने पर उसके सम्मान में वृद्धि तो नहीं मगर अपमान में कुछ कमी अवश्य होती थी। पुत्रियों की जननी और विधवा होने पर उसकी यातना में तीव्र वृद्धि हो जाती थी। विधवा को अपशकुन का प्रतीक माना जाता था इसलिए वह धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों में भाग नहीं ले सकती थी। इस विचारधारा से आज का ग्रामीण समाज भी पूर्णत: मुक्त नहीं है।

बहु पत्नी प्रथा से समाज एवं परिवार में स्त्री का महत्त्व एवं सम्मान घटना स्वाभाविक था। जिन समाजों में स्वेच्छा से विवाह और तलाक की व्यवस्था थी वहाँ स्त्रियों का पारिवारिक जीवन सरल था। परन्तु ऐसे जनजातीय समाज और क्षेत्र मध्यकाल में कम ही थे। किसान मजदूर और शिल्पी समुदाय में स्त्रियों के कार्य की महत्ता थी, वे पुरुष के साथ दिन भर लगी रहती थीं। उत्पादन कार्यों में उनकी महत्ता के साथ गुणवत्ता का भी सम्बन्ध था। इसलिए पति के मरने के बाद सती होने का प्रश्न नहीं खड़ा होता क्योंकि ऐसा सहयोग वे पुत्र और देवर के साथ भी करती थीं फिर भी पुरुष-प्रधान समाज इन्हें वैधव्य की त्रासदी से मुक्ति का कम ही प्रयास करता है। दु:खद आश्चर्य तो तब होता है जब आधुनिक समाज की औरतें भी विधवा को अमंगल का प्रतीक समझने लगती हैं।

कहने और गणना करने के लिए उच्च परिवार की कुछ स्त्रियाँ कुशल प्रशासक, चित्रकार, लेखक और विद्वानों की संरक्षक थीं। मगर औरतों से भरे हरम में ऐसे लोगों का प्रतिशत एक से भी कम था। मुस्लिम परिवारों में फारस के प्रभाव से स्त्री का स्थान निम्न हुआ तो तुर्कों के प्रभाव से बहु-विवाह का प्रचलन बढ़ा। मध्यकाल में जहाँ सामंतों की संख्या बढ़ी वहीं हरम में औरतों की संख्या और सेना से सामंतों की समृद्धि का आकलन किया जाने लगा । विवाहित पत्नियों की संख्या तो बढ़ी ही दासियों से सम्बन्ध भी आम बात हो चली थी। इस प्रकार रानी और नौकरानी की सीमा खत्म होने लगी। मुसलिम समाज में विधवा विवाह एवं तलाक की सुविधा से स्त्री घुट-घुट कर मरने से बच जाती थी। सम्पत्ति में समान अधिकार मिलने से उसके प्रभाव और सम्मान में निश्चित रूप से वृद्धि हुई होगी। अतः कुछ मामलों में मुस्लिम स्त्री का पारिवारिक जीवन सरल और सुखमय था।

सुविधा सम्पन्न परिवारों में स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था घर में ही हुआ करती थी हिन्दू और मुस्लिम दोनों समाजों में स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था और परम्परा नहीं थी। शासक वर्ग से सम्बन्धित परिवारों में जिन लड़कियों को पढ़ने लिखने का शौक था वे घर की चहारदीवारी में रहकर ही अपने शौक को पूरा कर लिया करती थीं। लड़कियाँ प्रारम्भिक शिक्षा लड़कों के साथ मकतब में प्राप्त करती थीं। उम्र बढ़ने पर माता पिता शिक्षक का प्रबन्ध घर पर ही कर दिया करते थे। मुस्लिम समाज में मध्यम वर्ग में बालिकाओं को प्रारम्भिक शिक्षा का प्रचलन था। देश के विभिन्न भागों में ऐसे शिक्षा केन्द्रों के उल्लेख मिलते हैं । मुस्लिम परिवार में विधवाएं लड़कियों को धार्मिक-शिक्षा प्रदार करती थीं।

हरम में स्त्रियों की शिक्षा एवं मनोरंजन की विशेष व्यवस्था रहती थी। सामाजिक जीवन में उनकी सहभागिता का अंदाजा उनको प्रदान की जाने वाली उपाधियों, व्यक्तिगत

जागीरों और पारितोषिक से लगाया जा सकता है। गुलबदन बेगम, नूरजहाँ, और मुमताज महल जैसी अनेक स्त्रियाँ अपने प्रभाव एवं प्रतिभा में अद्वितीय थीं। "नूरजहाँ ने अपने समकालीन भूषाचार को प्रभावित किया तथा उसकी माता असमत बेगम ने गुलाब के इत्र का आविष्कार किया था।"7

शिल्पकार, कृषक एवं छोटे व्यापारियों की स्त्रियाँ उनके कार्यों में सहयोग करती थीं। घर और बाहर परिश्रम के परिणामस्वरूप उनकी दशा सन्तोषजनक थी। अत्यन्त निम्न वर्ग की स्त्रियों की दशा ठीक नहीं थी। उनका जीवन अपने से ऊपर के वर्ण वर्ग के परिवार में सेवा करने में व्यतीत होता था।

साहित्य का समय समाज और संस्कृति से घनिष्ट सम्बन्ध होता । समाज साहित्य रूपी दर्पण में पड़ने वाला मात्र प्रतिबिम्ब ही नहीं अपितु उसका आधार भी है। प्रत्येक युग का साहित्य अपने समय समाज से प्रभावित होता है तथा बाद के युग को प्रभावित करता है। यद्यपि भक्तिकाव्य का प्रधान विषय सामाजिक चित्रण नहीं फिर भी वह इससे बच नहीं पाया है। सगुण साहित्य अगर जीवन के मनोरम पक्ष पर केन्द्रित रहा तो निर्गुण साहित्य के केन्द्र में सामाजिक असमानता। स्त्री जीवन से जुड़े प्रसंगों में सगुण-निर्गुण का भेद भी मिटने लगता है। परिवार प्राचीन काल से ही भारतीय समाज का आधार रहा है। मध्यकाल में परिवार के स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुआ। बहुपत्नी प्रथा से अनेक नयी पारिवारिक एवं सामाजिक समस्या उत्पन्न हुयी। जायसी नारी जीवन की इस अवसादमय त्रासद स्थिति को केन्द्र मे रख ही पद्मावत में चलते हैं। इनके यहाँ स्त्रियों का कई स्वरूप मिलता है। नागमती को कवि ने भले ही "दुनिया धन्धा" कहा मगर उसके जीवन को स्त्री की आँख से देखा है। पद्मावती के सौन्दर्य एवं जीवन का चित्रांकन पुरुष की कल्पनामयी दृष्टि से

करते हैं, फिर भी नारी जीवन के प्रति सहानुभूति और संवेदना की कमी नहीं है। कवि नारी जीवन की विवशता का वर्णन बड़ी सहानुभूति के साथ करता है।

मानसरोवर में जल-क्रीड़ा के समय सखियाँ कहती हैं: पिता के राज में जितना चाहो, खेल लो। ससुराल जाने पर सास, ननद, ससुर सबको झेलना पड़ेगा। हर्षोल्लास के प्राकृतिक परिवेश में भी कवि भारतीय समाज में नारी की परवश स्थिति को नहीं भूल पाता है। विवाह पूर्व नारी जीवन की स्वतंत्रता और उसके बाद की परवशता आधुनिक समाज का भी का सच है। विवाह को अनेक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक बन्धन माना है। मगर स्त्री के लिए तो यह पिंजड़े के समान है। जायसी की कविता में समासोक्ति-अन्योक्ति कहीं-कहीं मिलती है मगर समाजोक्ति सर्वत्र विद्यमान है।

"कित नैहर पुनि आउब, कित ससुरे यह खेल

आपु आपु कहं होइहि, परब पंखि जस डोल।"

xx xx xx xx xx

"सासु ननंद बोलिन्ह जिउ लेही । दारून ससुर न निसरै देही॥"[8]

सामंती समाज में नारी सर्वाधिक शोषित और पीड़ित थी। जनसाधारण के बीच भी नारी सम्मान और आदर की पात्र नहीं थी। जायसी जैसा समाजद्रष्टा कवि इससे अनभिज्ञ नहीं हो सकता। पद्मावती की विदाई के समय सखियों का सम्मिलन करूण दृश्य को और अधिक मार्मिक बना देता है। सखियाँ अपनी हीनदशा और व्यथा को व्यक्त करती हैं समृद्ध (सौन्दर्य और धन से भी) पद्मावती भी गुलामी को भरे समाज में व्यक्त करती है। यह

समस्या सिर्फ जायसी के नारी पात्रों की नहीं अपितु पूरे समाज की है। पद्मावती का यह कथन नारी जीवन का सच है।

"कंत चलाई का करौं, आपसु जाइ न मेटि।

पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं लेहु सहेली भेंट।"[9]

पद्मावती में अनेक आलोचक अलौकिक नारी के गुण ढूढ़ लिए हैं। मगर उसके रूप एवं सौन्दर्य में भावी पत्नी के प्रति पुरुष की आकांक्षा ही व्यक्त हुयी है। उसकी अलौकिकता भी सामाजिकता से अछूती नहीं है। "सौन्दर्य दृष्टि के लिए जायसी को दो सीमान्तों से जूझना है- एक ओर सामंती समाज है जहां देह ही सब कुछ है, विलास ही काम्य है उदारपंथी संवेदन सम्पन्न कवि को इसका एहसास है कि यह नारी जाति का अनादर है, इसलिए वह इसका दूसरा पक्ष प्रस्तुत करता है- दिव्य और शोभन, जहाँ लौकिक से आयात्मिकता के संकेत मिलते हैं।"[10]

नागमती के माध्यम से कवि ने बहुपत्नी-प्रथा की पीड़ा को जनसामान्य की भावभूमि पर प्रस्तुत किया है। कवि ने नागमती का सामाजीकरण इस हद तक किया है कि पशु-पक्षी भी उसके सहगामी बन गये हैं। नागमती का वियोग वर्णन अत्यन्त करुण और अवसाद पूर्ण है। जहाँ नारी वेदना को राजमहल से निकालकर ग्राम्य समाज तक लाया गया है। कृषक समाज में बदलते मौसम के साथ विरहिणी के मनोभावों को उसकी असहाय स्थिति को कवि ने सहानुभूति के साथ अभिव्यक्ति प्रदान की है। ऐसी सहानुभूति पुरुष वर्ग के प्रति नहीं है। जायसी की स्त्री विषयक दृष्टि करुणा और मानवीयता से निर्मित नहीं है। स्त्री राजपरिवार की हो या सामान्य परिवार की उसके हृदयगत भावों को मार्मिक ढंग से व्यक्त करते हैं।

श्रमिक परम्परा के निर्गुण सन्तों पर अनेक विद्वान स्त्री-विरोधी होने का आरोप लगाते हैं। आश्चर्य तब होता है जब ये आलोचक रामभक्तिशाखा में की गयी नारी निंदा पर मौन रहते हैं। अधिकांश सन्त समाज सुधारक थे भक्त और कवि बाद में। भोगविलास मध्ययुग की सामंती व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। मध्य वर्ग तो सदा से उच्च वर्ग के ऐसे दुर्गुणों का पिछलग्गू रहा है। समाज व्यवस्था कासंचालक वर्ग सुरा-स्वर्ण-सुन्दरी में संलिप्त रहता था। सत्ता के अवगुण को एक स्वाभिमानी निर्गुण साधक किस प्रकार स्वीकार कर सकता है-

"एक कनक अरु कामिनी, विष फल कीएउ पाइ।

देखै ही थै विष चढ़ै, खाँयै सूँ मरि जाय ॥"11

ऐसे अनेक पद कबीर की साखी में मिल सकते हैं इन पदों के सतही अर्थ में नारी निंदा ही नजर आयेगी। गूढ़ार्थ के आधार पर कहा जा सकता है कि शरीर सुखवादी सामंती समाज में "जार कर्म" की निन्दा की गयी है। न कि नारी की। व्यभिचार में संलिप्त स्त्री-पुरुष ही कबीर के ऐसे पदों के पात्र और लक्ष्य हैं। वैराग्य और स्त्री-विरोध से ऐसे पदों का कोई सम्बन्ध नहीं। दलित और शिल्पी वर्ग से आये अधिकांश सन्त वैवाहिक थे। पत्नी के साथ रहना उनके सन्त कर्म में बिल्कुल बाधक नहीं था। जिस वर्ग से ये आये थे वहाँ स्त्री के श्रम की आवश्यकता थी इस लिए उसको सम्मान मिलना स्वाभाविक था।

नारी-निन्दा के मूल में ब्रह्मचर्य और वैराग्य जैसी अतिवादी विचारधारा ही है। सहज-साधना के समर्थक सन्त कभी भी इसे स्वीकार नहीं किये। कबीर के काव्य में आदि से अन्त तक 'जार कर्म'के खिलाफ महायुद्ध चलता [illegible] साथ ही परिवार की जकड़बन्दी में घुटती स्त्री का चित्र भी बारम्बार उभरता है। [illegible] रूप में एक स्त्री को किस प्रकार

और कितना शोषण होता है, इसे एक पारिवारिक जीवन जीने वाला सन्त ही समझ सकता है। न कि मन्दिर में लीलागान करने वाला और सन्यास लेने वाला—

"मेरौ हार हिरानौं मैं लजाऊँ ।

सास दुरासनि पीव डराऊँ ।

xx xx xx

सासु ननद दोउ देत उलाहन,

रहहु लाग मुख गोई हो ।"12

परिवार के वरिष्ठ व्यक्तियों का किस प्रकार दुल्हन पर नियन्त्रण रहता है। उसे आधुनिक युग में भी देखा जा सकता है। बड़े लोग तो अनुभवी होते हैं कुछ क्षण के लिए उनके अनुशासन को उचित ठहराया जा सकता है। मगर ननद जो उम्र में छोटी भी हो सकती है उसके द्वारा शोषण जगजाहिर है। कबीर न सिर्फ वर्ण-व्यवस्था की अमानवीयता के विरोधी हैं अपितु पारिवारिक जड़ता के भी। कबीर के पदों में सास, ननद ससुर के अत्याचार का वर्णन तो है ऐसे स्थलों पर पति के मौन साधने का भी चित्रण है। कबीरकहीं भी माता, पत्नी और पुत्री के रूप में आयी स्त्री के विरोधी नहीं हैं अगर विरोधी हैं तो वेश्या और सामंतों की भोग्या के । भावात्मक अनुभूति के क्षणों में ईश्वर और गुरु के सामने कबीर जब उपस्थित होते हैं तो स्त्री का बाना ही धारण करते हैं।

कबीर नारीत्व और मातृत्व के विरोधी नहीं हैं, वे कटु आलोचक हैं वेश्यावृत्ति और जार कर्म के। स्त्री का शारीरिक शोषण सामान्य पुरुष और सामंत द्वारा होने पर वह कैसे स्वीकार सकता है जो देवताओं द्वारा किये व्यभिचार को नहीं भूल पा रहा है-

"देव चरित्र सुनहु हो भाई।

जो ब्रहमा से छियेउ नसाई॥

दूजे कहौं मदोदरि तारा ।

जहि घर जेठ सदा लगवारा ॥

सुरपति जाय अहिल्या घरि।

सुर गुरु घरणि चन्द्र में हरि॥

कहहिं कबीर हरि के गुन गाया।

कुन्तिहि कर्ण कुँवारेहिजाया ॥"13

प्रेम एवं एकनिष्ट भक्ति के प्रसंग में आये पदों में कबीर सती-प्रथा के समर्थक प्रतीत होते हैं। दलित सन्तों के समाजशास्त्र से सती-प्रथा का विरोध ही सम्भव है। सन्तों के समाज में सती जैसी कोई प्रथा नहीं थी और जिस द्विज समाज में यह थी, उसके ये मुखर विरोधी थे। दलित-संस्कृति तो प्रारम्भ से विधवा पुनर्विवाह की अनुमति दी है। अतः सन्त साहित्य में प्रयुक्त शब्द "सती" का रूढ़ार्थ नहीं लगाना चाहिए। शब्द से अर्थ निकालने की प्रक्रिया कवि के सामाजिक धरातल और वैचारिक भावभूमि के अनुरूप होनी चाहिए।

तुलसी के नारी सम्बन्धी विचार अनेक दृष्टियों से अध्ययन का विषय रहा है। आप के नारी सम्बन्धी विचार दो रूपों में सामने आते हैं। प्रथम नारी विषयक मान्यताओं के सैद्धान्तिक निरूपण में, द्वितीय नारी पात्रों के चरित्र चित्रण में। उनके नारी विषयक विचारों में परस्पर विरोध मिलता है। तो आलोचकों में वाद-विवाद भी। ये निंदापरक उक्तियाँ एक ओर संस्कृत साहित्य से प्रभावित हैं तो दूसरी ओर लोकप्रचलित कथनों से। तत्कालीन

सामाजिक परिस्थितियों एवं रचनाकार के जीवनवृत्त को केन्द्र में रखकर ही उसके विचारों का मूलयांकन किया जाना चाहिए। मोक्ष, वैराग्य या किसी भी भाव से प्रेरित इन उक्तियों में नारी के प्रति मानवतावादी दृष्टिकोण का अभाव है। कुछ आलोचकों का कहना है कि ये तुलसी के व्यक्तिगत विचार नहीं हैं, यह सब असत् पात्रों का कथन है। मगर मर्यादापुरुषोत्तम के कथन को किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है–

"महावृष्टि चलिं फूटि किआरीं । जिमि सुतन्त्र भएं विगरहिं नारीं।"14

संस्कृत वाङ्गमय में भी स्त्री को पराधीनता की वेणी में जकड़ने और कब्जे में रखने सम्बन्धी विचार यत्र–तत्र मिल जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुलसी इस प्रकार की सामंती विचारधारा के समर्थक थे। उनके महानायक खुद जगतजननी के चरित्र पर सन्देह रखते हैं एवं उसी कारण अग्नि परीक्षा लेते हैं। पुरुष वर्ग की अमानवीयता से त्रस्त होकर ही सीता जैसी उज्ज्वल चरित्र व्यक्तित्व की महिला को भी धरती की गोद में शरण लेनी पड़ी। विवाह के समय पुरुष–स्त्री एक दूसरे का सात जन्म तक साथ देने का वचन लेते हैं किन्तु राम एक साधारण व्यक्ति के आरोप लगाने पर सीता को घर से निकाल देते हैं। जबकि सीता जी उस समय गर्भवती थीं। ऐसा कार्य किसी भी समाज में स्त्री के प्रति न्यायपूर्ण नहीं माना जा सकता। तुलसी साहित्य में काकभुशुंडि सम्मान एवं आदर के अधिकारी हैं, उनका कथन तो स्त्री के पारिवारिक रिश्तों की पवित्रता पर प्रश्नचिन्ह ख़ड़ा कर देता है—

"भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखति नारी॥

होइ विकल सक मनहि न रोकी । जिमिरविमनि द्रव रबिहि बिलोकी ॥"15

स्त्री-पुरुष का एक दूसरे के प्रति आकर्षण सामान्य बात है। मगर रिश्तों की मर्यादा को तोड़कर ऐसा भाव पाश्चात्य-संस्कृति से प्रभावित आधुनिक नारी में भी नहीं है। मध्यकाल में नारी के प्रति ऐसे विचार रखना, रचनाकार के हीन एवं कुंठित मानसिकता का ही परिणाम हो सकता है। अन्तर्द्रष्टा समीक्षक डा0 नगेन्द्र लिखते हैं— "तुलसी के राम-चरितमानस तथा अन्य ग्रन्थों में, विभिन्न प्रसंगों में ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं जो किसी भी देशकाल की नारी के प्रति किसी भी रूप में न्याय नहीं करती। उन्होंने नारी की प्रकृति, उसके चरित्र, बुद्धि विवेक, आचार व्यवहार सभी की निन्दा की है।"[16]

इसके साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि असत् पुरुषों की तुलना में असत् नारीपात्रों की संख्या कम है। निंदनीय कही जाने वाली नारियों की संख्या गिनी-चुनी है। खलनायक पक्ष में भी सु-नारियाँ मिल जाती हैं जैसे- मंदोदरी एवं तारा। तुलसी का सम्बन्ध समाज के जिस वर्ग से था उसमें वैराग्य एवं ब्रह्मचर्य की महत्ता थी। शासक वर्ग भोगवादी मनोवृत्ति का था जिसकी निगाह में औरत मात्र उपभोग की वस्तु थी। ऐसे परिवेश में निर्मित होता है तुलसी का स्त्री विषयक दृष्टिकोण, जिसे किसी भी विचारधारा से उचित नहीं माना जा सकता।

तुलसी की स्त्री विषयक वह अवधारणा जो पात्रों के माध्यम से उनके चरित्र से परोक्ष रूप से अभिव्यक्ति होती है, उस पर भी विचार करने की अभी आवश्यकता बनी हुई है। अग्नि परीक्षा और लांछन के बाद भी सीता को तुलसी साहित्य और समाज में जगत जननी का पद मिलता है पार्वती के विवाह के अवसर पर नारी-जीवन की असह्य व्यथा और पीड़ा को गोस्वामी जी मार्मिक अंदाज में प्रस्तुत करते हैं बंमभोले के बारात की विकटता देखकर एक कन्या की माँ का चिन्तित होना, मध्ययुगीन समाज की अनमेल विवाह की समस्या की ओर संकेत करता है—

"जहि विधि तुम्हहिं रूप अस दीन्हा । तेंहि जड़ बरु बाउर कस कीन्हा॥

कस कीन्ह बरु बौराह विधि जेहि तुम्हहि सुन्दरता दई।

जे फल चहिअ सुरतरुहि सो बरबस बबूरहिं लागई।

तुम्ह सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि मँह परौं।"[17]

इसे एक नारी का नारीविरोधी व्यवस्था के प्रति विद्रोह ही कहा जायेगा। अगर नारी अपनी पीड़ा को नहीं खत्म कर सकती, व्यवस्था को नहीं बदल सकती तो अपने जीवन को ही खत्म करने के विषय में सोचने लगती हैं हमारे समझ से मध्ययुग में नारी की परवशता का प्रमुख कारण उसकी आर्थिक पराधीनता है। गोस्वामी जी इस पराधीनता के कारण और निवारण को भले न जानते थे, पराधीनता की पीड़ा को अवश्य समझते थे-

"कत विधि सृजी नारि जग माँही। पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं॥"[18]

मध्यकाल में सूरदास ने नारी आकांक्षा एवं स्वतंत्रता का जो स्वप्न देखा वह आज भी अधूरा है। परिवार की जड़ व्यवस्था और सामंती समाज में नारी की स्थिति शूद्रों से बेहतर नहीं होती। सूरदास के रचना संसार में नारी कहीं कुंठित और दबी हुयी नहीं है, वह स्वतंत्र ही नहीं बल्कि मुखर भी है। अपने हक के लिए स्वाभिमान के साथ लड़ने और हृदयगत भावों को व्यक्त करने में उसे कोई संकोच नहीं गोपियाँ अपने दिल की बात को जितना उन्मुक्त ढंग से कह लेती हैं ऐसी उन्मुक्ता आज के महानगरीय समाज में रहने वाली लड़की को भी नहीं मिलती है। रास, महारास, दान-लीला, मानलीला आदि का केवल आध्यात्मिक और दार्शनिक महत्त्व ही नहीं, उसका सामाजिक सरोकार भी है। रासलीला में न सिर्फ पारिवारिक सामाजिक बन्धन टूटता है, अपितु ऊँच-नीच का भी। इस सन्दर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी का कहना है—"सूरदास का रास चित्रण सुखविभोर मानवता का सजीव

सरूप, गतिमय, स्पंदित चित्र है। यहाँ मनुष्य सृष्टि के साथ ताल, लय, गति, प्राण, अनुभूति, सभी दृष्टियों से एकमेव हो गया है।''19 पारिवारिक बन्धन को तोड़ना किसी भी कीमत पर असामाजिक नहीं है क्योंकि यहां तो अमानवीयता और असामाजिकता ही टूटती है।

गोस्वामी जी नारी पराधीनता की पीड़ा को महसूस करते हैं, उसका चित्रण करते हैं। मगर उनके नारी पात्र सामाजिक मर्यादा को तोड़ते नहीं हैं अगर तोड़ते हैं तो उन्हें जान से हाथ धोना पड़ता है। जैसा कि शूर्पणखा और ताड़का के साथ हुआ। सूर के नारीपात्रों का व्यक्तित्व मर्यादा के बन्धन को तोड़ने के बाद ही निर्मित होता है। सूर की नारी भावना को समझने के लिए उद्धव-गोपी-संवाद का समाजशास्त्रीय अवलोकन आवश्यक है न कि आध्यात्मिक धार्मिक विश्लेषण । गोपियाँ पुरुष प्रधान समाज में अपने हक एवं अधिकार की लड़ाई लड़ती हैं। इस वाद-विवाद में उद्धव का पराजित होना जनतांत्रिक मूल्यों की विजय है। क्योंकि ज्ञानी उद्धव अकेले हैं गवार गोपियाँ बहुसंख्यक हैं यहाँ पर ग्रामीण एवं नगरीय संस्कृति का संघर्ष है। गोपियों के लिए नगर से आया हर व्यक्ति संदेहास्पद है—

''मधुबन लोगनि को पतियाइ।

मुख औरै अंतरगति औरै, पतियाँ लिखि पठवत जुबनाइ।

ज्यौं कोइल सुत-काग जियावै, भाव भगति भोजन जु खावाइ।

कुहुकि कुहुकि आऐं बसंत रितु, अंत मिलै अपने कुल जाइ।

ज्यौं मधुकर अंबुज रस चाख्यौ, बहुरि न बूझे बातैं आइ ।

सूर जहां लगि स्याम गात हैं, तिनसौं कीजै कहा सगाइ ।''20

गहरे अवसाद और व्यथा के क्षण में ग्रामीण बालाओं का व्यंग्य उद्धव जैसे ज्ञानी और पंडित के दम्भ और गर्व को चूर-चूर कर देता है। गोपियों की लड़ाई सगुण और निर्गुण की नहीं है। यह जंग प्रेम और योग की, लोकानुभव एवं शास्त्रज्ञान की है। गोपियाँ जब कहती हैं कि "ये तीनों कबहूँ नहिं उपजे धनियां धान कुम्हाड़े", तो उद्धव जैसा ज्ञानी निरुत्तर हो जाता है। यहाँ गोपियों के साथ साथ जनसंस्कृति की विजय सूरदास दिखाते हैं।

वर्तमान दौर की तरह तो नहीं मगर भक्ति आन्दोलन में नारी चर्चा कुछ न कुछ अवश्य थी। सूरदास का पूरा काव्य संसार ही नारी जीवन की समस्या और आशा-आकांक्षा पर टिका है। पूरे हिन्दी साहित्य में सूर ऐसे तनहा कवि हैं जिन्होंने सबसे अधिक ऊर्जा वात्सल्य के चित्रांकन में खर्च की । इस चित्र में यशोदा एक आदर्श माँ के रूप में सामने आती हैं। यहां यशोदा का व्यक्तित्व स्वतंत्र है। एक माँ के रूप में, एक पत्नी के रूप में। भारतीय समाज में नारी सिर्फ सम्बन्धों के माध्यम से जानी जाती है- विवाह पूर्व पुत्री के रूप में फिर पत्नी के रूप में, पति के मरणोपरान्त माता के रूप में। वृद्धावस्था में वह माँ-बाप द्वारा दिये गये नाम तक को भूल जाती है। सूर यशोदा को सर्वाधिक बार उनके नाम द्वारा ही सम्बोधित करते हैं न कि किसी की माँ और पत्नी जैसे रिश्तों के माध्यम से। उसी प्रकारराधा भी किसी की पुत्री और प्रेमिका के रूप में नहीं जानी जाती उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है।

सूरदास के नारी पात्र एक सीमा तक स्वावलम्बी और परिश्रमी हैं, उनकी स्वतंत्रता का मेरी समझ से यही प्रमुख कारण है। गाय दुहना, माखन निकालना, दही बेचना- इन कार्यों का गोचारण-संस्कृति में पर्याप्त महत्व है। ये कार्य गोप बालाएँ करती हैं इस लिए वे स्वतंत्र हैं।

स्त्री जीवन की स्वतंत्रता और समस्याकी चर्चा भक्ति की हर शाखा में हुई हैं। ज्ञान-मार्गी शाखा में पतिव्रता और सती का सम्मान है मगर अधिकांश स्थलों पर नारी को माया कहकर दुत्कारने का भाव भी है। तुलसी भी कभी-कभी नारी की पराधीनता पर घड़ियाली आँसू बहाते हैं — "कत विधि सृजी नारि जग मांही।पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥" और उसके स्वतंत्र होने पर बिगड़ने का भय भी उन्हें सताता है। प्रेममार्गियों के यहाँ भी सम्मान की पात्र सौन्दर्य की पारलौकिक देवियाँ हैं। नागमती तो इनकी दृष्टि में दुनियाँ धन्धा है । यह सत्य है कि सूर के नारी पात्र औरों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र हैं । इस स्वतंत्रता में भी कहीं न कहीं कृष्ण के प्रति समर्पण काभाव छिपा है। कृष्ण जिस प्रकार अनेक स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखते हैं उसी प्रकार गोपियाँ भी अनेक पुरूषों से सम्बन्ध रखती या सूर के आराध्यदेव को भूल जाती तो क्या सूर-साहित्य में उन्हें इतना सम्मान और आदर मिलता? उत्तर नकारात्मक ही आयेगा। तात्पर्य यह कि सबके यहाँ नारी व्यक्तित्व और चरित्र को लेकर द्वन्द्व एवं अन्तर्विरोध है।

हमारे समाज में नारी के विविध स्वरूप और पद हैं। इसके अनुसार ही वह मान एवं अपमान पाती हैं। माँ के रूप में आती हैं तो सम्मान की अधिकारी होती हैं प्रेमिका के रूप में बराबर का पद पाती है वही प्रेमिका जब पत्नी बन जाती हैतो उसके साथ दासी जैसा व्यवहार होने लगता है। पुरुष अपना सिर प्रेयसी के सामने झुकाता है या किसी देवी के। जिस दिन पत्नी के साथ ऐसा व्यवहार करने लगेगा भारतीय समाज में नारी की दशा ही बदल जायेगी। इसमें सन्देह नहीं कि नारी के प्रति समाज के ऐसे परस्पर विरोधी विचारों का प्रभाव भक्ति-काव्य पर पड़ा है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. विश्वनाथ त्रिपाठी –"मीरा का काव्य" पृ0 सं0 30, द्वितीय संस्करण 1998 वाणी प्रकाशन दरियागंज,नयी दिल्ली।
2. विश्वनाथ त्रिपाठी –"मीरा का काव्य" पृ0 सं0 38, द्वितीय संस्करण 1998 वाणी प्रकाशन दरियागंज,नयी दिल्ली।
3. विश्वनाथ त्रिपाठी –"मीरा का काव्य" पृ0 सं0 38, द्वितीय संस्करण 1998 वाणी प्रकाशन दरियागंज,नयी दिल्ली।
4. विश्वनाथ त्रिपाठी –"मीरा का काव्य" पृ0 सं0 41, द्वितीय संस्करण 1998 वाणी प्रकाशन दरियागंज,नयी दिल्ली।
5. सतीश चन्द्रा–"मध्यकालीन भारत, भाग–दो" पृ0 सं0 378, प्रथम संस्करण 2001 जवाहर पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
6. सतीश चन्द्रा–"मध्यकालीन भारत, भाग–दो" पृ0 सं0 379, प्रथम संस्करण 2001 जवाहर पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
7. लईक अहमद–"मुगल कालीन भारत" पृ0 सं0 331, संस्करण 2002, प्रयाग पुस्तक भवन, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद
8. डा0 राजेश्वर चतुर्वेदी एवं गंगा सहाय प्रेमी–"जायसी ग्रन्थावली" पृ0 सं0 34, 33 संस्करण 1992, गोयल बुक डिपो, अग्रसेन चौक आगरा
9. गोविन्द त्रिगुणायत: जायसी का पद्मावत शास्त्रीय भाष्य पृ0 सं0 501, संस्करण 1969 यस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी, नयी दिल्ली
10. प्रेम शंकर –"भक्तिकाव्य का समाजदर्शन" पृ0 सं0 119, संस्करण 2000 वाणी प्रकाशन दरियागंज, नयी दिल्ली

11. डा0 श्याम सुन्दर दास –"कबीर ग्रंथावली" पृ0 सं0 30 संस्करण सं0 2032 वि0 नागरीप्रचारिणीसभा, वाराणसी

12. "कबीर और जायसी ग्राम्य संस्कृति" — डा0 लक्ष्मी चन्द्र पृ0 सं0 44, संसस्करण 1988 प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली

13. सुभाष गताडे (सम्पादक) —"संधान ' (पत्रिका) पृ0 सं0 151, अंक–जनवरी मार्च प्रकाशक बी–2/52 सेक्टर 16, रोहिणी, नई दिल्ली

14. इन्द्रनाथ मदान –"तुलसी प्रतिभा" पृ0 सं0 146, संस्करण 1971, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

15. गोस्वामी तुलसीदास – "रामचरितमानस" पृ0 सं0 55, अरण्यकाण्ड, संस्करण 37वां गीता प्रेस गोरखपुर

16. डा0 चन्द्रभान रावत —"तुलसी सााहित्य : बदलते प्रतिमान" पृ0 सं0 168 संस्करण 1971, जवाहर पुस्तक भवन, मथुरा

17. गोस्वामी तुलसीदास –"रामचरितमानस", पृ0 सं0 83, बालकाण्ड, 37वां संस्करण– सं0 2048 , गीताप्रेस, गोरखपुर

18. गोस्वामी तुलसीदास –"रामचरितमानस", पृ0 सं0 88, बालकाण्ड, 37वां संस्करण– सं0 2048 , गीताप्रेस, गोरखपुर

19. विश्वनाथ त्रिपाठी–"मीरा का काव्य" पृ0 सं0 49, द्वतीय संस्करण 1998, वाणी प्रकाशन दरियागंज,नयी दिल्ली।

20. डा0 धीरेन्द्र वर्मा, - "सूरसागर सार सटीक", पृ0 सं0 287, संस्करण 2002, साहित्य भवन प्रा0 लि0, जीरो रोड, इलाहाबाद

अध्याय - 4

तुलसी की स्त्री-विषयक चेतना

सृष्टि के प्रारम्भ से वर्तमान युग तक जीवन विकास के मूल में नारी दायित्व को विस्तृत नहीं किया जा सकता। उसके पवित्र गर्भ से ही मानव जीवन अंकुरित और पुष्पित होता है। नारी आदि काल से ही आदर के भाव की हकदार रही है। वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य और परवर्ती साहित्य तथा काव्यों में नारी कभी अपने अधिकारों को प्राप्त करती हुई, कभी उससे वंचित होती हुई,अपनी निरन्तर गति से जीवन-मार्ग पर चली आ रही है। वैदिक साहित्य में यदि नारी-पुरूष के लगभग बराबर अधिकार रखती थी तो परवर्ती धर्मशास्त्रों में अनेक कुप्रवृत्तियों और विषम परिस्थितियों के फलस्वरूप अपने सामान्य, अधिकारों से भी वंचित हो गयी।

सर्जक समकालीन सामाजिक जीवन एवं राजनीतिक परिस्थितियों से अप्रभावित नहीं रह सकता है। तुलसीदास के काव्य पर भी मध्यकालीन सामाजिक विषमता, राजनीतिक उलटफेर, धार्मिक विशृंखलता तथा नैतिक पतन का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा है। तुलसीदास ने राम के लोक-ग्राह्य, मर्यादावादी-आदर्श,पुरूषोत्तम रूप को समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया। आपका रामचरितमानस सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक ही नहीं बल्कि पारिवारिक जीवन का आदर्श है। गोस्वामी जी का समाज के प्रति आदर्श एवं मर्यादा का दृष्टिकोण रहा है। आपके अनुसार विभिन्न सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्ध त्याग एवं उत्सर्ग के प्रतीक हैं। सामाजिक जीवन के विकास के लिए गृहस्थ आश्रम का अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण स्थान है। नारी गृहस्थ जीवन की रीढ़ है। नारी के प्रति तुलसी का दृष्टिकोण वैविध्यपूर्ण एवं विरोधाभास से युक्त है।

तुलसीदास जी नारी को कर्त्तव्यनिष्ठ, पतिव्रत आदर्श एवं मर्यादित रूप से देखना चाहते हैं। इन आदर्शों के प्रतिकूल जाने पर वे निन्दा एवं भर्त्सना करने में नहीं चूकते हैं। वे कभी निन्दा स्वयं करते हैं तो कभी पात्रों द्वारा कराते हैं। तुलसी को सामाजिक मर्यादा के विपरीत आचरण स्वीकार नहीं है। नारी के प्रकृति, हृदय एवं चरित्र के चित्रण में गोस्वामी जी की लोक-व्यवहार निपुणता ऊजागर होती है। तुलसी-काव्य में नारी भावना मुख्यतः दो रूपों में अभिव्यक्ति पाती है— एक नारी विषयक मान्यताओं के सैद्धान्तिक निरूपण में, दूसरी नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में।

तुलसीदास की सत् पात्रता की एक ही कसौटी है- रामभक्ति। मानस के अन्तर्गत खुद राम भी इसका समर्थन करते हैं—

"कह रघुपति सुनु भामिनी बाता। मानउँ एक भगति कर नाता।"[1] जिन स्त्रियों के हृदय में राम के प्रति श्रद्धा-भक्ति है, वे सत्पात्र हैं अगर वे समाज उपेक्षित निम्न जाति के हैं तो भी। राम के प्रति अश्रद्धा और द्वेष रखने वाली स्त्रियाँ तुलसी की दृष्टि में निन्दनीय हैं भले ही वे उच्चकुलोत्पन्न और राजघराने की ही क्यों न हों। ऐसी स्त्रियों में कैकेयी, मंथरा, ताड़का और शूर्पणखा मुख्य रूप से आती हैं। क्या ताड़का इतनी अधम थी कि मात्र दो पक्तियों में ही स्थान पाये और इतने में ही उसका वध भी कर दिया जाय-

"चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई।

एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥"[2]

स्त्री को ओर देखकर किसी को दिखाना उसके प्रति अशिष्टता है। इन परिस्थियों में ताड़का का क्रुद्ध होना स्वाभाविक है क्योंकि वह अबला नहीं है वह एक सशक्त नारी है। दीन कह तुलसी ने राम की मर्यादा की रक्षा करने का प्रयास किया है। अगर वास्तव में दीन होती तो क्रोध करके दौड़ती नहीं। "यदि रामचंद्र को ईश्वर मानकर तुलसी के 'ईस' के बारे में कुछ विचार ही न किया जाये, तब तो खैर खुछ कहना ही नहीं। अन्यथा इसमें कहाँ का आर्य शौर्य है कि निशस्त्र दौड़ी चली आती एक अबला को दूर से ही बाण मार कर उसकी हत्या कर दी गयी ? और आगे फिर यह लिखना क्या जले पर नमक छिड़कने के समान नहीं है कि उसे गरीबनी जान अपना पद अर्थात् बैकुंठ दे दिया।"[3]

अहिल्या द्वारा दो अपराध हुए थे प्रथम् परपुरुषगमन, द्वितीय झूठ बोलना। परपुरुष गमन का तो उस पर आरोप लगना ही नहीं चाहिए क्योंकि उसने इन्द्र को ऋषि गौतम समझ लिया था। इस कुकृत्य के लिए अगर कोई सबसे बड़ा अपराधी था तो देवराज इन्द्र। पत्थर तो उन्हें होना चाहिए था। मगर हुआ इसके विपरीत। हमारे पौराणिक आख्यानों में अनेक स्थानों पर परस्त्रीगमन का उल्लेख आता है परन्तु किसी देवता या पुरुष को ऐसा कठोर दण्ड नहीं दिया गया। उस युग में भले ही लोकतन्त्र नहीं था किन्तु एक समाज व्यवस्था तो थी जिसमें अनेक धर्मधुरंधर एवं परोपकारी के नाम आते हैं मगर किसी ने अहिल्या के पक्ष में आवाज नहीं उठायी। युगों-युगों तक पत्थर बनें रहने के बाद जब वह प्राणवान होती है, तो गोस्वामी जी उसके मुख से यह प्रार्थना करवाते हैं—

"मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावणरिपु जन सुखदाई।"[4]

अहिल्या के साथ दुष्कर्म के षड्यन्त्र में कई देवता संयुक्त प्रयास किये थे। जिसमें इन्द्र और चन्द्रमा प्रमुख भूमिका में हैं। न तो चन्द्रमा और न ही देवराज इन्द्र तुलसी की दृष्टि में अपवित्र हुए। अगर कोई अपवित्र हुआ, किसी का चरित्र लांछित हुआ तो मात्र अहिल्या

थी। इसका क्या कारण हो सकता है सिवा इसके कि वह नारी थीं। तुलसी अपवित्र तो समझते ही हैं उसे अहिल्या द्वारा खुद कहलवाते भी हैं, इतना पर भी उन्हें संतोष नहीं मिलता है तो शादी के शुभ अवसर पर सीता की सखियाँ कहती हैं—

"परसि जासु पदपंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघभूरी॥

सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरें,। यह प्रतीति परिहरिए न भोरें॥[5]

घोर पापिन अहिल्या–उद्धार की बात राम के जनकपुर पहुँचने से पहले पहुँच गयी। उस मध्ययुग में ही नहीं आधुनिक वैज्ञानिक क्रान्ति के युग में भी अहिल्या जैसा व्यवहार किसी स्त्री के साथ किया जाय तो शायद ही उससे कोई शादी के लिए तैयार हो। आज के आधुनिक दौर में भी ऐसी बातें बड़ी जोर–शोर के साथ प्रसार पाती है। "किन्ही चन्द्रों तथा इन्द्रों द्वारा वंचिता नारियों को घोर पापिन कहकर बारम्बार तिरस्कृत करना हिन्दू जाति की ऐसी महान भूल की ओर संकेत करता है जिसने उसे इधर भी न जाने कितनी हानि पहुँचायी है। आज भी न जाने कितने विधर्मी चंद्रों और इंद्रों द्वारा वंचिता हिन्दू नारियाँ पाषाण हृदय हिन्दू जाति के द्वारा बात की बात में ठुकरा दी जाती हैं।[6]

धनुष यज्ञ, फुलवारी प्रसंग और वैवाहिक कार्यक्रम को गोस्वामी जी बड़े हर्षोल्लास के साथ चित्रित करते हैं। सीता और राम का विवाह वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक किसी भी स्तर पर अनमेल विवाह नहीं है। विदाई के समय की तुलसीदास द्वारा कही गयी उक्ति पति–पत्नी के समकक्षीय सम्बन्धों पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देती है—

"तुलसी सलीलु सनेहु लखि निज किंकरी करि मानिबी"[7]

मर्यादा पुरूषोत्तम और अन्तर्यामी से तुलसी पत्नी को किंकरी (दासी) की तरह मानने की बात कहते हैं न कि सहयोगी और सहधर्मिणी। अगर आज की समाज व्यवस्था में भी

स्त्री को पुरुष से निम्न माना जाता है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ? हमारे आदर्श एवं पथ प्रदर्शक का भी तो प्रभाव हो सकता है। एक महापुरुष के स्पर्श से पत्थर स्त्री में बदल जाता है। ये महापुरूष एक विद्यार्थी हैं जिनके साथ उनके गुरू भी हैं। स्पर्श अगर आवश्यक था तो क्या हाथ से नहीं हो सकता था? हर अपराध के बाद भी अहिल्या 'मुनितिय' है। फिर भी उसके लिए पगधूरी। इस लघुकथा में ऐतिहासिकता और वैज्ञानिकता के आधार पर तो विचार नहीं हो सकता और नहीं अपेक्षित है किन्तु समाजशास्त्रीय आधार पर तो इसका विश्लेषण होना ही चाहिए।

समाज के उच्च वर्ग द्वारा नारी का जितना शोषण एवं अपमान हुआ उतना शायद निम्न वर्ग द्वारा नहीं। हमारे पौराणिक आख्यानों में देवताओं का चरित्र भी इससे अछूता नहीं है। देव-संस्कृति की सुरक्षा और राक्षसों के सर्वनाश के लिए देवलोक में एक सभा का आयोजन किया जाता है। इसी आयोजन के फलस्वरूप सरस्वती नें मंथरा की बुद्धि को फेर लिया।

"नाम मंथरा मंदमति चेरि कैकेई केरि,

अजस पिटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि।"[8]

राम विवाह के बाद सबसे बड़ा मंगल कार्य होने वाला है— राम का राजतिलक। जिसकी घोषणा तक हो चुकी है। इस मंगल कार्य में बाधा डालने का दोष सिर्फ एक स्त्री को जाता है। उसे सिर्फ राजतिलक में बाधक ही नहीं अपितु दशरथ की मृत्यु का कारण भी माना जाता है। वह कैकेयी है। समाजशास्त्रीय नियमों के अनुसार जब भी कोई बड़ी घटना होती है तो उसके अनेक कारण होते हैं। कैकेयी के अपयश को अगर किसी ने कुछ हद

तक बाँटा है तो मंथरा ने। मंथरा के सम्बन्ध में गोस्वामी जी अपने विचार निम्न प्रकार से प्रकट किये हैं—

"करै विचार कुबुद्धि कुजाती, होइ अकाजु कवनि विधि राती।
देखि लागि मधु कुटिल फिराती, जिमि गंव तकै लेउं, केहि भांती।
भरत मातु पहिं गइ बिलखानी, का अनमनि हसि कह हंसि रानी।
उतरू देह नहिं लेई उसासू, नारिचरित करि ढारइ आँसू॥"[9]

मंथरा की उपमा गोस्वामी जी अगर किसी जाति की स्त्री से करते हैं तो समाज के निम्न जाति भील से। उपमा कोई और भी दी जा सकती थी मगर यहाँ लगता है कि अनावश्यक रूप से निम्न जाति भील की स्त्रियों को कुटिल और लोभी सिद्ध किया जा रहा है। हर जाति और हम समाज में कुछ स्त्री-पुरूष लोभी होते हैं। किन्तु किसी निम्न जाति की सभी स्त्रियों को लोभी कहना कहाँ तक उचित है। 'नारिचरित करि ढारइ आँसू' के माध्यम से गोस्वामी जी अनावश्यक आँसू बहाना (घड़ियाली आंसू बहाना) कुछ स्त्रियों का नहीं अपितु सभी स्त्रियों का सामान्य स्वभाव सिद्ध करना चाहते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सामान्य परिस्थितियों में आँसू नहीं आ सकता। बनावटी ढंग से झगड़ा किया जा सकता है, कुछ क्षण तक ऐसा भी जा सकता है मगर आँसू तब तक नहीं निकला जब तक हृदय पर कोई गहरी चोट न की गयी हो।

प्राकृत एवं सर्वसाधारण स्त्रियों को जैसे लगता गोस्वामी जी पतित सिद्ध करने पर तुले हुए हैं। कवि कथन से साथ अन्य स्त्री पात्रों द्वारा भी मानस में दलित पात्रों को कर्कस कटुक्तियों का सामना करना पड़ा। मंथरा के प्रति कैकेयी के कथन को प्रस्तुत किया जा सकता है—

"काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।

तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि॥"10

सुविधा सम्पन्न आज के आधुनिक युग में भी विकलांग व्यक्तियों को काफी परेशानी का सामना करना पड़ता है। पत्थर दिल इंसान भी इनके कष्ट को देखकर द्रवित हो जाता है। मध्यकालीन समाज में विकलांग एवं निम्नवर्ग की समस्याएँ और भी जटिल थीं। उस युग में भी कवि हृदय की ऐसी सोच देखकर आश्चर्य होता है।

कैकेयी अपने वफादार सेविका मंथरा की बात जब मान लेती हैं उससमय स्त्रियों की बुद्धि के सम्बन्ध में तुलसीदास का यह कथन बड़ा ही सतही और ओछा है—

"गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि तीय अधर बुद्धि रानि।

सुरमाया बस बैरिनिहिं सुहृदय जाति पतिआनि॥"11

किसी भी तथ्य पर विश्वास का दो ही प्रमुख आधार है—आँखो से देखना या किसी द्वारा कही गयी बात को सत्य स्वीकारना। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए विश्वसनीय व्यक्ति द्वारा कही गयी बात को भी सत्य मान लेता है। विश्वास करने की यह प्रक्रिया स्त्री-पुरुष में एक समान होती है। गोस्वामी जी का यह कहना कि स्त्रियों की बुद्धि होठों में होती है और वे बातों में आकर विचलित हो जाया करती है। स्त्रियों के विश्वास करने के बारे में कथन तर्कसंगत नहीं लगता। यह कहने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक तार्किक होती है और दूसरों की बातों पर कम विश्वास भी करती हैं।

मानस के सम्पूर्ण स्त्री पात्रों में कैकेयी का चरित्र अपना विशिष्ट स्थान रखता है। राम के राज्याभिषेक की बात सुनकर वह प्रसन्न होती है साथ ही उस मंगल अवसर के लिए अनेक शुभकामनाएँ भी करती हैं। कैकेयी और मंथरा संवाद के आधार पर कहा जा सकता है कि वह सरल एवं निष्कपट राजमहिषी है। उसके हृदय में व्यक्तिविशेष के प्रति कोई द्वेष नहीं है। रघुकुल की परम्परा से वह पूर्णतः परिचित है। कौशल्या से न तो उसे सौतिया डाह है और न ही राम पर अविश्वास। मन्थरा के तर्कपूर्ण विचारों से उसका हृदय कुछ सन्देहास्पद हो जाता है। राम के राजतिलक के शुभ-अवसर पर भरत को सूचना तक नहीं दी जाती है, ऐसे में सौत-पुत्र के शासन के भय उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कैकेयी का मातृ-स्नेह जागृत होता है और वह अपने हक के अनुसार वर माँग लेती हैं। वह अपने पुत्र के लिए राज्य और उसकी सुरक्षा के लिए राम वनवास। राम के अयोध्या में रहने से कभी शासन परिवर्तन एवं जनविद्रोह सम्भव था। उसे क्या पता कि इसका परिणाम इतना भयावह होगा कि दशरथ प्राण त्याग देंगे और पूरा समाज उसको उपेक्षित दृष्टि से देखेगा। हमारा समाज बड़े पुत्र को राजा के रूप में देखने का अभ्यस्त हो चुका था और भरत द्वारा राज-सत्ता की उपेक्षा से कैकेयी का व्यक्तित्व व चरित्र कुछ छोटा हो गया।

भरत न सिर्फ राज-सत्ता की उपेक्षा करते हैं अपितु माता की भी भर्त्सना करते हैं। अपनी माता को कुमति कहना भारतीय आदर्शों के प्रतिकूल है। ऐसा राक्षसों की संस्कृति में भी नहीं मिलता देव और मानव संस्कृति की तो बात ही अलग है। पुत्र द्वारा माता के लिए दुर्वचनों का प्रयोग सर्वत्र दुर्लभ है—

कैकेयी कत जनमी जगमाझा । जौं जनमित भइ काहे न बांझा।

कुल कलंक देही जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रिय-जनद्रोही॥[12]

राज्याभिषेक का प्रसंग आने से पूर्व कैकेयी का चरित्र कहीं भी ऐसा नहीं है, जिस पर अंगुली उठायी जाय।

अनादि काल से हमारे समाज में प्रचलित 'सौत' शब्द कटुता, विद्वेष और ईर्ष्या का पर्यायवाची रहा है। पुत्र प्राप्ति की कामना, अत्यधिक कामुक प्रवृत्ति और अनेकानेक स्वार्थ भावनाएँ 'सौत' समस्या के मूल में रहती हैं। इससे नारी का वैवाहिक जीवन करुण एवं त्रासदीयुक्त हो जाता है। मध्यकालीन भारतीय समाज में 'सौत' की संख्या सबसे अधिक मिलती है। आधुनिक उपभोक्तावादी समाज भी इससे अछूता नहीं है। मध्यकाल में रचित रामकाव्य में ही नहीं अपितु कृष्णकाव्य में भी 'सौत' के उदाहरण मिल जाते हैं। इस काल के निर्गुण साधक प्रतीक के रूप में ही सही इसका प्रयोग करते हैं।

दशरथ की तीनों पत्नियों में भगिनीवत् स्नेह एवं सौहार्द है। यहाँ आदर्शपूर्ण सपत्नीरूप की सुन्दर व भावपूर्ण अभिव्यंजना मिलती है। राजा दशरथ तीनों पत्नियों को बराबर स्नेह, सम्मान एवं आनन्द प्रदान करने में कोई कमी कभी भी नहीं किये। आपस में ही नहीं अपितु परिवार एवं समाज के अन्य सदस्यों से वे समभाव एवं प्रेमभाव रखती थीं। सभी पत्नियां दशरथ के साथ एक-दूसरे के पुत्रों को लेकर बाल-क्रीड़ा का आनन्द उठायी थीं। कौशल्या सबसे बड़ी हैं फिर उनका व्यवहार अन्यों के प्रति सहोदरा एवं भगिनीवत् हैं। स्नेह संबंधों में स्थायितत्व लाने के लिए अपने को भरत की माँ बताती है और कैकेयी को राम की—

> ''सिथिल सनेह कहैं कौसिला सुमित्राजू सो,
>
> मैं न लखी सौतति सखी ! भगिमी ज्यों सेई है।
>
> कहै मोहि मैया, कहौं – मैं न मैयां, भरत की,
>
> बलैया लेहौं भैया, तेरी मैया कैकेयी है॥''13

मानस के अध्योध्याकाण्ड में ही कैकेयी का सपत्नीक रूप भी विकसित होता है। उसके इस रूप के विकास में पुरुष देवताओं का परोक्ष रूप से हाथ है। राज्याभिषेक के अवसर पर ही कैकेयी का सपत्नीक रूप दृष्टिगोचर होता है। इससे पूर्व वह सरल हृदया एवं पारस्परिक प्रेम में मग्न रहने वाली है। मन्थरा ने इस अवसर पर सपत्नीभाव के विकास में पूर्ण योगदान दिया है। उसने राज्याभिषेक को कौशल्या की कुचाल बताकर अनेक सौतों की कहानी सुनायी।[14] इससे कैकेयी का हृदय ईर्ष्या, द्वेष एवं कठोरता जैसे अवगुणों से युक्त हो गया।

सौतों की कहानी सुनकर कैकेयी के अन्दर भय एवं उत्तेजना आना स्वाभाविक है।

''रचि पचि कोटिक कुटिलप कीन्हेसि कपट प्रबोधु।

कहिसि कथा सत् सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु॥''[15]

कैकेयी में भी घृणा एवं द्वेष का मानवीय भाव विद्यमान था जो समय की अनुकूलता प्राप्त होने पर प्रस्फुटित होता है। कई पत्नियों के साथ रहने पर उनके अवचेतन मन में सपत्नीजन्य भाव विद्यमान रहता है। ऐसे भाव कैकेयी में भी रहे होंगे जो मन्थरा की बात एवं समयानुकूल परिस्थितियों के कारण प्रकट हुए।

नारी अपना सर्वस्व नष्ट करके भी पति एवं प्रेमी पर एकाधिकार रखना चाहती है। पुत्र के लिए अकंटक राज्य का लोभ एवं पति पर एकाधिकार भाव को केन्द्र में रखकर ही उसने दो वरदान माँगे थे। कैकेयी का सपत्नीभाव जब हिंसात्मक एवं क्रोधाग्नि का रूप धारण कर लेता है तो वह राजा दशरथ पर भी कटु बचनों के प्रयोग में संकोच नहीं करती है—

राम साधु तुम सयाने।

राम मातु भलि सब पहिचाने।

जस कौसिला मोर भल ताका।

तस फल उन्हहि देउं करि साका।''16

भावुकता और ईर्ष्या में बड़ी से बड़ी हानि भी छोटी ही लगती है। दशरथ की मृत्यु एवं राम वन गमन भी उसे 'कम हानि' लगती है। कैकेयी सौत के रूप में प्रतिहिंसा की कुटिल प्रतिमूर्ति, निर्मम एवं ध्वंसकारिणी शक्ति के रूप में प्रकट होती है। उसके व्यवहार में ऐसा परिवर्तन एकाधिकार की भावना पर कुठाराघात और स्वाभिमान पर लगी ठेस के कारण होता है। यह सत्य है कि कुछ समय के लिए कैकेयी सौत रूप में चंडिका बन गयी। राम–लक्ष्मण की सरलता और कौशल्या की क्षमाशीलता से उसके मनोभाव परिष्कृत होते हैं। जिससे उसके अन्दर शाश्वत मातृत्व भाव जाग्रत होता है। पश्चाताप की पराकाष्ठा में वह मौत की कामना भी करने लगती है।

पश्चाताप एवं मौत की कामना से कैकेयी का कलुषित हृदय धुल जाता है। अन्त में, फिर उसका उज्ज्वल एवं ममतामयी नारी रूप ही अभिव्यंजित होता है।

वनगमन के अवसर पर राम और सीता का वार्तालाप मध्यकालीन समाज में स्त्री–पुरूष सम्बन्धों को ही नहीं व्याख्यायित करता अपितु तुलसी की नारी विषयक अवधारणा को स्पष्ट करता है। राम की इच्छा है कि सीता घर पर रहें और माताओं की सेवा करें परन्तु सीता जी वन चलने का आग्रह करते हुए कह रहीं हैं कि —

''जह लगि नाथ नेह अरू नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥

तनु धनु धाम धरनि पुर राजू। पतिबिहीन सब सोक समाजू॥

भोग रोग सब भूषन भारु। जम जातना सरिस संसारू॥

प्राणनाथ तुम बिनु जग माहीं। मो कहुं सुखद कतहु कछु नाहीं॥"[17]

यह अटल सामाजिक सत्य है कि परिवार के सभी रिश्तों के मूल में पति का रिश्ता होताहै। मध्यकालीन ही नहीं अपितु आधुनिक समाज भी पुरुष-प्रधान है। स्त्री के भरण-पोषण का मूल उत्तरदायित्व पति पर ही होता है। पति के ऐसे ही उत्तरदायित्व को ध्यान में रखकर उसे भर्तार भी कहा जाता था। स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा और हैसियत पति से ही निर्धारित होती है। पति के अभाव में पत्नी को समाज एवं परिवार में कितनी विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ता है, इसे तुलसी से अधिक कौन समझ एवं समझा सकता है? 'जम जातना सरिस संसारू।' के माध्यम से तुलसी बाबा पुरुष-प्रधान समाज की अमानवीय व्यवस्था की ओर सीधे संकेत ही नहीं करते अपितु प्रहार एवं व्यंग्य भी करते हैं। हमारी समाज व्यवस्था इतनी पतित एवं क्रूर हो चुकी है कि पति के अभाव में पत्नी के साथ लोग यमराज की तरह व्यवहार करते हैं। पति के अभाव में पुरुषों का ही नहीं अपितु स्त्रियों के व्यवहार में भी परिवर्तन आना आज भी एक सामाजिक सत्य है। इन परिस्थितियों में परिवार के अन्य सदस्यों का स्त्री से सम्बन्ध दासी एवं सेविका की तरह हो जाता है। सारे आभूषण एवं श्रृंगार का कारण तो पति या प्रेमी ही होती है तो उसके अभाव में इनकी आवश्यकता ही क्या है ? सीता के माध्यम से तुलसी राज-परिवार के स्त्री की नहीं अपितु प्राकृत नारी की सहज दयनीय दशा को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं—

"जिय बिनु देह नदी बिनु नारी। तैसिअनाथ पुरुष बिनु नारी॥"[18]

राम अनेक प्रकार से सीता जी को समझाना चाहा मगर सीता जी अपने इच्छा के अनुसार साथ चलीं। वन में पहुँच जाने पर भी राम सुमंत की प्रेरणा से सीता को वापस अयोध्या जाने का आग्रह करते हैं। यहाँ पर पुरुष के अभाव में जैसे लगता है स्त्री की कल्पना ही नहीं की जा सकती—

"प्रभु करुमामय परम विवेकी, तनु तजि रहति छाह किमि छेकी।

प्रभा जाइ कंह भानु बिहाई, कंह चंद्रिका चंदु तजि जाइ॥"[19]

सीता जी के कथन से ऐसा लग रहा है कि पुरुष के अभाव में स्त्री की कल्पना ही नहीं की जा सकती। स्त्री के गर्भ से ही पुरुष की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह कहा जाना चाहिए कि स्त्री के अभाव में पुरुष का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। सीता जी के ये कथन पुरुष पर स्त्री के निर्भरता के द्योतक हैं। हमारी समाज व्यवस्था में स्त्री की स्वतन्त्र कल्पना ही नहीं मिलती है। स्त्री आर्थिक रूप से ही नहीं अपितु सामाजिक रूप से भी पुरुष पर निर्भर है। यह कहने में सन्देह नहीं होना चाहिए कि प्राकृतिक रूप से ही वह पुरूष से कुछ कमजोर होती है। समाज व्यवस्था के आरम्भ में पुरुषों ने इस कमजोरी का लाभ उठा करके उन्हें गृह कार्य का दायित्व सौंपा और अपने बाहर के कार्यों को करने में रूचि लेने लगे। यहीं व्यवस्था रामायण काल एवं मध्यकाल से होती हुई आधुनिक काल तक चली आयी है। पुरुष के स्वछंदता एवं स्त्री की पराधीनता के मूल में भी यहीं व्यवस्था है।

भरत जब मामा के यहाँ से वापस आते हैं और उन्हें मालूम होता है कि राम के वनवास एवं पिता के स्वर्गवास का कारण उनकी माँ हुई है। वे क्रोध में आने पर माता के लिए तो कटु शब्दों का प्रयोग करते ही हैं समस्त स्त्री जाति को पाप एवं अवगुन की खान बताते हैं—

"विधिहु न नारि हृदय गति जानी, सकल कपट अध अवगुन खानी ॥"20

ब्रह्म और राम को अन्तर्यामी जैसे विशेषण प्रदान किये गये हैं, तो कैसे माना जाये कि विधाता भी स्त्री के हृदय की स्थिति को नहीं जान सकता। एक ओर भरत को 'भरत महामहिमा जल रासी' कहा जाता है तो दूसरी ओर माता को ही नहीं अपितु पूरे मातृ समुदाय के विषय में ऐसे विचार प्रकट होते हैं। मानस में सारे चरित्रों की कसौटी राम हैं। अगर पात्र राम के प्रति समर्पित हैं तो वह तुलसी के ही नहीं अपितु रामभक्ति शाखा के अन्य कवियों की दृष्टि में भी उत्तम और श्रेष्ठ हैं। यहाँ पर वरदान देने वाले तो दशरथ हैं। जो कि पुरुष वर्ग से आते हैं अगर भरत और बाबा तुलसी तटस्थ चरित्र और व्यक्तित्व के हैं तो पुरुष के भी हृदय की गति की बात उठनी चाहिए।

लगभग इसी समय जगत जननी माता-सीता को ऋषिपत्नी अनुसूया पतिव्रता स्त्री के कर्त्तव्यों से अवगत करा रही हैं। यह उपदेश विस्तृत है जिसमें पत्नी को पति के साथ सहधर्मिणी की तरह नहीं बल्कि दासी और सेविका की तरह रहने का पाठ पढ़ाया गया है। इस पूरे उपदेश में पत्नी के अधिकार की नहीं कर्त्तव्य की बात कही गयी है। इस उपदेश में स्त्री का परिवार एवं समाज के प्रति अधिकार एवं कर्त्तव्य की चर्चा तक नहीं होती है। इस प्रसंग में लगता है मानस के लेखक ने स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को समाज से काट कर पूर्णत: पति की अधीनता स्वीकार करवाना चाह रहा है—

"मातु पिता भ्राता हितकारी।

मित प्रद सब सुनु राजकुमारी॥

अमितदानी भर्त्ता बैदेही।

अधम सो नारि जो सेब न तेही॥"21

भाई को मितदाता और परिमित दान देने वाला अगर कहा जाता है तो यह मध्यकालीन ही नहीं अपितु आधुनिक युग में भी स्वीकार किया जा सकता है। माता-पिता तो निःस्वार्थ भाव से सब कुछ अपने पुत्र एवं पुत्रियों पर न्यौछावर कर देते हैं। प्रमाण स्वरूप राजा जनक का नाम लिया जा सकता है। जिस माता-पिता ने स्त्री को जन्म दिया निःस्वार्थ भाव से पालन-पोषण किया उसे मितदाता कहना और पति को अमितदानी कहना कहाँ तक उचित है। अनुसूया जी का उपदेश तो यहाँ तह है कि जो नारी पति की सेवा नहीं करती वह अधम है।

दाम्पत्य-जीवन के सफल एवं सुखपूर्वक निर्वाह के लिए आवश्यक है कि पति-पत्नी के सम्बन्ध सहयोग पर आधारित हो न कि सेवा-भाव पर। मानस में ही नहीं मध्यकाल के अन्य ग्रन्थों में भी स्त्री को आजीवन पति की सेवा का उपदेश दिया गया है। मगर पति के कर्त्तव्य और सेवा की बात दुःख के समय (प्रसव पीड़ा और मासिक धर्म) भी नहीं उठती हैं। पूरे मानस में राम आदर्श पति से अधिक आदर्श पुत्र और आदर्श राजा के चरित का निर्वाह करते हैं। अनुसूया जी अपने उपदेश देने के कर्म में एक नारी की सहज एवं स्वाभाविक इच्छाओं को भी ताक पर रख देती हैं—

"धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद काल परखिग्रही चारी॥

बृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥

एसेहु पति कर किए अपमाना। नारिपाव जमपुर दुख नाना॥

एकइ धरम एक व्रत नेमा। काम बचन मत पतिपद प्रेमा॥"22

आपद्काल में नारी की ही नहीं पुरुष की भी परीक्षा की घड़ी होती है। नारी को ही बार-बार परीक्षा की कसौटी-कसना ठीक नहीं लगता। नर और नारी की कसौटी एक होना

चाहिए और साथ-साथ भी। अगर पति रोगी, धनहीन और अत्यन्त दीन हो तो उसके साथ पत्नी किसी प्रकार से कष्ट झेलते हुए निर्वाह कर सकती है। मगर जब पति वृद्ध, अन्धा, मूर्ख और क्रोधी हो तो उसके साथ जीवन निर्वाह करना कितना कठिन होगा इसका अनुमान अनुसूया और तुलसी बाबा को नहीं था। औरत द्वारा की जाने वाली आत्महत्या के मूल में भी ऐसे ही पति होते हैं। पति के अपमान का परिणाम बड़ा भयावह होता है उसे परलोक से भी जोड़ना स्मृति ग्रन्थों की विचारधारा को पुष्ट करने के समान ही है।

प्रेम चाहे पति-पत्नी का हो या प्रेमी-प्रेमिका का वह समकक्षीय होने पर ही टीकाऊँ हो सकता है। बराबर होने पर ही उसमें स्थायित्व आ सकता है। प्रेम का स्थान हृदय तथा प्रेमी - प्रेमिका का स्थान बाहें होती हैं न कि चरण। 'काय बचन मन पतिपद प्रेमा' द्वारा पत्नी को सहधर्मिणी नहीं अपितु दासी और सेविका सिद्ध करने का प्रयास है। चरणों से प्रेम का सीधा तात्पर्य है प्रेम नहीं पूर्णतः समर्पित होकर पूजा करना। ईश्वरीय गुणों का बार-बार पति में अरोपण करने का विचार मध्ययुगीन समाज एवं साहित्य की प्रमुख विशेषता है।

मध्यकालीन समाज और शास्त्र में स्त्री से एक ही व्रत और धर्म की सभी आकांक्षा लगाये रहते थे कि स्त्री मात्र एक पुरुष के लिए जीये और मरे भी। जब तक पुरुष जिन्दा है पत्नी उसी से मात्र सम्बन्ध रखे, मरने के बाद भी दूसरे से सम्बन्ध न रख सके। इस नियम के सख्ती से पालन के लिए ही सती-प्रथा का विकास हुआ। पुरुष को मात्र एक पत्नी के साथ जीवन यापन करना चाहिए इस प्रकार उपदेश न तो अनुसूया जी सीता को देती है और न ही अत्रि ऋषि राम को देते हैं। अनुसूया द्वारा तुलसीदास बार-बार पतिव्रत- धर्म के पालन और नियमों की कठोरता की व्याख्या करते हैं—

"जग पवित्रता चारि विदि अहहीं।

वेद पुरान संत सब कहहीं।।

उत्तम के अस बस मन माहीं।

सपनहुं आन पुरुष जग नाहीं॥"[23]

पतिव्रता का धर्म अपने आप में कठोर एवं पवित्र है। उसको फिर चार वर्गों में बांटना और उसे उत्तम, मध्यम एवं निम्न दर्जे का कहना नारी समुदाय का अपमान है। स्त्री के व्यक्तित्व और कर्म का मूल्यांकन मात्र पतिव्रत धर्म और यौन शुचिता के आधार पर नहीं होना चाहिए। बल्कि स्त्री का मूल्यांकन उसके पारिवारिक कर्मों एवं सामाजिक दायित्वों के आधार पर होना चाहिए। मन की चंचलता स्वयं सिद्ध है उसे बस में रखना सामान्य पुरुषों के लिए भी कठिन है। स्त्री से ही मात्र ऐसी अपेक्षा रखना कहाँ तक उचित है? मध्यकालीन समाज में स्त्री को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं थी, इसलिए उसकी भावना दबी रह जाना स्वाभाविक है। दबी भावनाओं एवं आकांक्षाओं का स्वप्न में आना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस परिस्थितियों में एक स्त्री सपने में भी किसी अन्य पुरूष के बारे में न सोचे यह किस प्रकार सम्भव है ?

मानस में ही नहीं अपितु तुलसीदास जी के अन्य ग्रन्थों में भी स्त्री की शारीरिक शुद्धी के साथ मानसिक शुद्धी की भी बात उठती है। ऐसा लगता है कि स्त्री की पवित्रता 'छुईमुई' का पौधा है जो पुरुष के मात्र स्पर्श और दृष्टि से मूर्छित और नष्ट हो जायेगा। स्त्री द्वारा पुरुष को देखने पर भी सन्देह और उसमें भी रिश्ते का निर्धारण—

"मध्यम पर पति देखै कैसे।

भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥"24

अगर ऐसा कोई पतिव्रता करती है तो भी उसे उत्तम श्रेणी में नहीं रखा जायेगा। अपने से अधिक उम्र वाले को पिता की तरह, हम उम्र पुरुष को भाई की तरह और अपने से कम उम्र वाले को पुत्र की तरह देखना चाहिए। एक ही दृष्टि में उम्र का अंदाजा लगाना और उसके अनुसार देखना यह कितना कठिन और अस्वाभाविक प्रक्रिया है। नैतिकता और सदाचार की स्थापना में धर्म, समाज और परिवार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। धर्म और परिवार की मर्यादा को ध्यान में रखकर भी अगर कोई स्त्री पतिव्रत धर्म का पालन करती है तो भी अनुसूया जी न सिर्फ निकृष्ट बताती हैं अपितु वेदों द्वारा भी इसकी प्रमाणिकता सिद्ध करने का प्रयास करती हैं—

"धर्म बिचारि समुझि कुल रहई।

सो निकृष्ट तिय स्रुति अस कहई॥

बिनु अवसर भय ते रह जोई।

जानेहु अधम नारि जग सोई॥"25

इस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति और राजनैतिक इतिहास के अध्ययन से यह बात प्रमाणित होती है कि नैतिकता के विरुद्ध आचरण करने पर धर्म एवं शासन का भय बना रहता था। नियम चाहे सदाचार का हो या फिर संविधान का उसका पालन तो भय से ही होगा। धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वालों के बराबर अगर स्त्रियों का सामाजिक उत्थान नहीं हो पाया तो इसके मूल में भी

कारण ही है। स्त्रियों के स्वतन्त्रता पर अंकुश या तो धर्म का है या फिर पुरुषों का। जब स्त्री के आचरण धर्म द्वारा नियन्त्रित होते हैं तो फिर स्त्री को अधम कहना मेरे अनुसार स्त्री और धर्म दोनों का अनादर है। स्त्री के आचरण का लैगिंक आधार पर मूल्यांकन और इसके लिए एकमात्र धर्म पतिव्रत। ऐसे विचार कुण्ठित पुरुषवादी दम्भ के ही परिचायक हैं। मध्यकाल में ही नहीं अपितु समाज व्यवस्था के आरम्भ से ही सदाचार के ऐसे नियमों की आवश्यकता थी। अगर ये नियम पुरूष पर लागू किये जायं तो समाजव्यवस्था में अतिशीघ्र सुधार हो सकता है।

अनुसूया जी महर्षि की पत्नी है तुलसीदास उनके द्वारा सामान्य विचारों को प्रस्तुत करना उचित नहीं समझा होगा। तुलसी साहित्य के दो श्रेष्ठ महिला पात्रों के संवाद को सहज ढंग से नहीं लिया जाना चाहिए। यहाँ लगता है बाबा तुलसी ने अपने स्त्री विषयक अवधारणा का निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—

"सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहई।

जसु गावत श्रुति चारि आजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥"[26]

मध्यकालीन समाज में ऋषि-पत्नी की सोच एवं नारी समुदाय के प्रति उनकी धारणा को किस प्रकार और कितना स्वीकार किया गया इसका सटीक अंदाज तो नहीं लगाया जा सकता मगर स्त्री के प्रति हिन्दू पुरुषों की धारणा का अनुमान मानस की प्रकाशित प्रतियों के आधार पर लगाया जा सकता है। अगर नारी सहज अपावन है तो उससे निर्मित यह पूरी सृष्टि किस प्रकार पावन हो सकती है? शिव तो अर्धनारीश्वर थे तो उन्हें आधा अपवित्र मानना उचित होगा। स्त्री या पत्नी के अभाव में कोई धार्मिक कार्य पूर्ण नहीं हो सकता तो पवित्रता किस प्रकार इन कर्मों में बनी रह सकती है ? जो स्वभाग से ही अपवित्र है। उसकी शुद्धि किस प्रकार सम्भव हो सकती है।

स्त्री के सम्बन्ध में ऐसे घृणित विचार मानस में अनेक स्थानों पर बिखरे पड़े हैं। ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति अधम पात्र नहीं बल्कि शालीन एवं सम्मानित पात्र करते हैं। अरण्य काण्ड में ही कुछ आगे बढ़ने पर कागभुशुंडि अनुसूया के विचारों को और पुष्ट करते हैं—

"भ्राता पिता पुत्र उरगारी।

पुरुष मनोहर निरखत नारी॥

होहि विकल सकमनहिं न रोकी।

जिमि रविमनि द्रव रबिहिं बिलोकी॥"27

समाजशास्त्री ही नहीं बल्कि आध्यात्मवादी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्य में अद्‌भुत एवं अलौकिक आकर्षण शक्ति होती है। मनोहर पुरुष को देखकर स्त्री का आकर्षित होना एवं सुन्दर स्त्री को देखकर पुरूष का आकर्षित होना स्वाभाविक है। भारतीय समाज एवं हिन्दू धर्म में पिता, पुत्र एवं भाई के रिश्तों की पवित्रता आज भी विद्यमान हैं। इन रिश्तों की पवित्रता को भंग करने का जब भी प्रयास हुआ है— वह पुरुषों द्वारा ही चाहे वह लेखक हो या पारिवारिक सदस्य। मध्यकालीन समाज क्या आधुनिक समाज में भी स्त्री इन रिश्तों को पवित्र ही मानती है। मन तो उधर बढ़ता ही नहीं। पुरुष एवं स्त्री के पारस्परिक सम्बन्धों की उपमा रवि एवं रविमणि से देना भी स्त्री समुदाय के प्रति अवमानना ही है। पुरुष एवं स्त्री समाजव्यवस्था को चलाने में बराबर के सहयोगी हैं जहाँ तक देखने और मन को न रोक सकने की बात है तो पुरुष ही स्त्री को अधिक घूर-घूर कर देखता है और व्यंग्य स्वरूप अपने कुण्ठित भावों को भी व्यक्ति करता है।

हमारे समाज में स्त्री को शालीनता एवं सुकुमारता की प्रतिमूर्ति माना गया है। लज्जा उसका प्रमुख गुण है। हमारे पौराणिक आख्यानों में श्रद्धा ने पहली बार प्रणय निवेदन किया

उसके बाद अगर किसी स्त्री ने प्रणय निवेदन किया तो वह शूर्पणखा थी। पौराणिक ही नहीं अपितु ऐतिहासिक आख्यानों में भी प्रणय निवेदन प्रायः पुरुषों द्वारा देखने को मिलता है। मानस के सम्पूर्ण नारी पात्रों में शूर्पणखा अकेली है जो प्रणय निवेदन का साहस उठाती है। शूर्पणखा सुन्दरी होने के साथ रूप-गर्विता भी रही होगी तभी तो वह वर के तलाश में श्रीलंका से पचंवटी तक चली आयी। 'कोटिमनोज लजावनिहारे' राम के रूप पर किसी कुँवारी कन्या का आकर्षित हो जाना स्वाभाविक है। रस के इतने बड़े प्रसंग में भी गोस्वामी जी अपनी मर्यादा को ध्यान में रखकर अरसिक ही बने रहे।

स्त्री - पुरूष के बीच के आकर्षण को काम और प्रेम में विभक्त करना दुरूह ही नहीं अपितु अनुचित भी है। इसे या तो प्रेमी विभक्त कर सकता है या अन्तर्यामी। ऐसे अवसर पर मानव समाज में कम आते हैं जब काम और प्रेम की अभिव्यक्ति अलग-अलग हो। पौराणिक युग में ही नहीं अपितु आधुनिक युग में भी श्रीलंका के सुन्दर पुरुषों का अभाव है। पंचवटी जैसे रमणीय स्थान पर राम को देखकर उसके मन में ऐसे भाव स्वाभाविक ढंग से उठे—

"तुम सम पुरुष न मो सम नारी।

यह संयोग बिधि रचा बिचारी॥"[28]

शूर्पणखा और राम दोनों राजवंश से सम्बन्धित है अतः सामाजिक दृष्टि से भी यह प्रणय निवेदन अनुचित नहीं था। रघुकुल में वैसे भी बहुविवाह की परम्परा थी। अचानक और प्रथम-मिलन में प्रणय निवेदन तो कोई अपराध नहीं। गोस्वामी जी को भी उसके सुन्दर रूप का पूरा बोध था। तुलसी की दृष्टि में शूर्पणखा केवल काम से पीड़ित है। गोस्वामी जी लक्ष्मण के समान मान चुके हैं कि वह शत्रु की बहन है। शूर्पणखा तो राम को शत्रु भी नहीं

मानती। वह सामान्य स्त्री-पुरुष के आधार पर राम से सम्बन्ध बनाना चाहती है, भक्ति और मुक्ति की आकांक्षा लेकर राम के पास नहीं गयी थी। राम शूर्पणखा को स्वीकार कर लेते तो दो संस्कृतियों के समन्वय से एक नया इतिहास बनता। राक्षसों की प्रवृत्ति में सुधार लाने का एक प्रयोग हो सकता था।

तुलसी उन्हीं चरित्रों का वर्णन उदारता पूर्वक करते हैं जो राम के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखते हैं। अन्य राम काव्यों में शूर्पणखा प्रसंग कुछ दूसरे ढंग से आया है। "उदारराघव से शूर्पणखा सूर्यवंश और पुलस्त्य वंश में सम्बन्ध का आग्रह करती है। राम से गन्धर्व विवाह की प्रार्थना करती है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार राम के प्रति शूर्पणखा का लगाव इतना गहरा है कि कृष्ण जन्म में वह कुब्जा बनकर राम का प्यार पाती है।"29

प्रणय-निवेदन के समय मानस के राम शूर्पणखा के सौन्दर्य और योग्यता को देखकर पूर्णतः अस्वीकार नहीं करते हैं बल्कि उसे लक्ष्मण के पास भेजते हैं इतना ही नहीं लक्ष्मण को कुँआरा बताकर झूठ भी बोलते हैं। इस झूठ का खुलासा लक्ष्मण भी नहीं करते हैं। इस झूठ के पीछे कुँआरी युवती को छलने के सिवाय और मंशा क्या रही होगी ? राम सीधे लक्ष्मण के पास भेजने से पहले कह सकते थे कि मैं भी विवाहित हूँ और मेरा भाई भी। राम क्या लक्ष्मण से वन में पुनर्विवाह की उम्मीद रखते थे। शूर्पणखा एक समर्पित प्रेमिका के समान राम की बात मानकर लक्ष्मण के पास जाती है। लक्ष्मण भी उसे समझाकर घर नहीं भेजते बल्कि पुनः राम के पास भेजते हैं। जैसे लगता है लक्ष्मण मर्यादापुरुषोत्तम से पुनः विवाह की उम्मीद रखते हों। दोनों भाई एक दूसरे के पास टालते रहे जिससे यहाँ पर यौवन का नहीं बल्कि नारीत्व का अपमान हुआ। इस प्रकार अबला को सबला और चंडी बनने को मजबूर किया गया।

शूर्पणखा से बचने के और भी तरीके हो सकते थे। मगर एक प्रेमातुर रुपगर्विता कुँआरी का नाक–कान काटना कितना उचित होगा। समाज में शायद ही कोई ऐसा पुरुष हो जो नाक-कान कटी स्त्री को देखना पसन्द करे विवाह तो दूर की चीज है। मर्यादा पुरुषोत्तम से प्रणय निवेदन का उसे ऐसा सिला मिला कि वह आजीवन कुँआरी रही और समाज में उपहास का पात्र भी रही होगी। जिस प्रेम–प्रसंग से नाक-कान कटना अपमान का मुहावरा बन गया वह प्रेम–प्रसंग कितना दारुण और त्रासदीयुक्त था। लौकिक धरातल पर विचार करें तो इसकी तुलना में रावण का सीता साथ व्यवहार मर्यादित था। रामकथा लेखकों में सभी ने शूर्पणखा के नाक–कान कटवाये हैं। अधिकांश ने राम से तो कुछ लक्ष्मण से भी। स्त्री द्वारा प्रणय निवेदन में इन लेखकों को अमर्यादा और अशिष्टता नजर आतीहै। यहीं नाक और कान काटे जाने का प्रमुख कारण है।

तुलसी जी अपने आराध्य राम और सीता के अनुकूल सात्विक विचारों रखने वाली स्त्री पात्रों का चित्रांकन उदारता पूर्वक किया है। राम की माता कौशल्या कवि की दृष्टि में वंदनीय ही नहीं अपितु परम महिमा सम्पन्न, ममता मयी एवं लोककल्याण की भावना से परिपूर्ण हैं। कौशल्या के चरित्र में एक माता के सारे उदात्त गुण हैं। उनके अन्दर पत्नी, सपत्नी, विमाता, राजमहिषी आदि गुण हैं मगर मातृत्व का गुण उनमें सर्वोपरि है। अयोध्या काण्ड तो तीनों रानियों के बीच दशरथ का व्यक्तित्व दब सा गया है। कौशल्या पति-भक्ति की प्रतिष्ठा ही नहीं करती अपितु सौत के प्रति भी सद्व्यवहार रखती है—

"जौं केवल पितु आयेसु ताता।

तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।

तौ कानन सत अवध समाना॥"[30]

यहाँ पर गोस्वामी जी कौशल्या के विशाल हृदय एवं उदार विचारों का परिचय दिया है। वे कैकेयी को माता समझने एवं राम को बन जाने की अनुमति प्रदान करती हैं। पिता द्वारा वन जाने का आदेश मिलने पर भी राम द्वारा माता से अनुमति माँगना परिवार एवं समाज में तुलसी द्वारा नारी की प्रतिष्ठा के स्थापना का एक प्रयास है।

सीता द्वारा समाज में पतिव्रत धर्म का आदर्श रूप स्थापित करने का प्रयास किया गया है। पति के साथ वन में भी किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नहीं करती हैं। वन गमन के समय प्राणप्रिय पति के कमलवत चरणों के दर्शन से ही थकान दूर हो जाती है। अग्निपरीक्षा में भी सीता जी पतिव्रता की तरह पार उतरती हैं। इस प्रकार सीता जी का पवित्र एवं दिव्य रूप समाज के सामने उपस्थित होता है।

बन्दर की स्त्री तारा भी तुलसी जी द्वारा सम्मान एवं आदर प्राप्त करती है। तारा बन्दरराज की स्त्री होते हुए भी राम के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखती है तुलसी जी द्वारा सम्मानित होने का कारण भी यहीं है। सुयोग्य पत्नी की बात न मानने वाले बालि को राम ने मूढ़ कह कर सम्बोधित किया है—

''मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।

नारि सिखावन करसि न काना॥''31

वानरराज की पत्नी उसे राम के बल का ज्ञान कराना चाही है। भाई सुग्रीव को रामभक्त समझकर पति को उसके अनुकूल होने की शिक्षा प्रदान करती है। अतः कवि को आराध्य के अनूकूल आचरण करने वाली वानरी भी सम्मान की पात्र है। राम की भक्ति और महिमा को समझने वाली रावण की पत्नी भी कवि हृदय में स्थान प्राप्त करती है। वह पति को धार्मिक उपदेश ही नहीं देती अपितु रामभक्ति की ओर उन्मुख भी करना चाहती है।

तुलसी की दृष्टि में सद्‌पात्रता राम के प्रति सद्‌भाव और भक्ति है। जिनके मन में राम के प्रति सद्‌भाव है वे सु–नारियाँ हैं। राम के प्रति दुर्भाव रखने वाली कु–नारियाँ हैं। नारी पात्रों के ये दो वर्ग पुरुष पात्रों के तत्संवादी वर्गों से भिन्न हैं। उदाहरण स्वरूप भरत सत् पात्र हैं उनकी माता असत पात्र हैं। दूसरी ओर रावण असत्पात्र है तो उसकी पत्नी मन्दोदरी सत्पात्र। यह बात ध्यान देने योग्य है कि तुलसी साहित्य में सच्चरित्र नारी पात्रों की संख्या बहुत बड़ी है। निंदनीय कही जाने वाली नारियाँ गिनी–चुनी हैं परन्तु निंदनीय पुरुषों की संख्या उनसे बहुत अधिक है। गोस्वामी जी के नारीपात्र परम्परागत हैं जिनका चित्रण रीतिबद्ध रूप से मिलता है।

निंदित पात्रों में कैकेयी सर्वोपरि है वनगमन के प्रसंग को छोड़कर देखा जाय तो उसका चरित्र उज्ज्वल हैं। वहाँ पर परिस्थितियों के दबाव में वह आ जाती है। मंथरा बेचारी बिल्कुल निर्दोष है। उसकी मति देवी सरस्वती द्वारा फेरी जाती है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि बुद्धि विपर्यय का कार्य भी एक नारी द्वारा करवाया गया है। सरस्वती जैसे सद्‌चरित नारी पात्र को देवताओं ने ही ऐसा करने को मजबूर किया। उदयभानु सिंह के शब्दों में —"तुलसी की दृष्टि स्पष्ट है : यदि नारी भी सीता–राम के विरोध में आ पड़े तो उसे दंडित होना चाहिए ताड़का जान से मारी गयी। शूर्पणखा के नाक–कान काटे गये, मंथरा लतियायी गयी और कैकेयी को कठोरतम् दण्ड मिला : उसका एकलौता और सुपुत्र जीवन भर उसकी अवमानना करता रहा।"[32]

सद्‌चरित् नारियों के चित्रांकन में तुलसी अत्यन्त उदार दृष्टि रखते हैं। कौशल्या का चरित्र आदर सम्मान एवं महान गुणों से युक्त है। सौत के प्रति भी सद्‌भाव एवं सहृदयता से युक्त हैं। लंकेश की बहन का अंग–भंग करने वाले लक्ष्मण वानरी तारा को यथोचित सम्मान प्रदान करते हैं। राक्षसी मन्दोदरी को एक कूटनीतिज्ञ एवं दार्शनिक महिला की तरह चित्रित

किया गया है। वह रावण को ज्ञान की बातों के साथ-साथ राम की महिमा का वर्णन ही नहीं करती अपितु सन्धि करने के लिए बिनती भी करती है। निम्न कुल एवं जाति से सम्बन्ध रखने वाली शबरी भी राम द्वारा सम्मान प्राप्त करती है। त्रिजटा को सीता ने माता का पद दिया था ग्राम-वधुओं का चित्रांकन गोस्वामी जी बड़ी सहानुभूति और सहृदयता के साथ गीतावली रामचरितमानस और कवितावली में करते हैं। सीता और पार्वती की ही नहीं अपितु गोस्वामी जी कौशल्या सुमित्रा आदि नारियों की भी वन्दना करते हैं। आप के यहाँ नायक पक्ष के ही नहीं बल्कि प्रतिनायक पक्ष की भी अधिकांश नारियाँ समाज के श्लाघ्य आदर्श हैं। रामचरितमानस में पुरुष सन्त ही नहीं अपितु चरितवान नारियाँ भी समाज में सम्मान एवं आदर प्राप्त करती हैं। आज भी लगभग चार सौ वर्ष पूर्व आपने जो कुछ लिखा वह अपने समय के प्रतिकूल नहीं था।

नारी-निन्दा से सम्बन्ध रखने वाली पक्तियों को पढ़कर ज्यादा खिन्न होने की जरूरत नहीं। इन पंक्तियों के पीछे तुलसी का संस्कार, आगम-निगम का अध्ययन एवं युग का प्रभाव छिपा हुआ है। सत्योपाख्यान, हितोपदेश एवं महाभारत में अनेक ऐसी पक्तियाँ मिल जायेंगी। जिनका संशोधन करके उसके अश्लील अंशों को निकाल करके यहाँ मर्यादित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मध्यकाल में नारी की सामाजिक स्थिति इससे बेहतर नहीं थी। तुलसी से पूर्व विरचित भारतीय वाङ्मय में नारी का उक्त रूप बहुधा चित्रित था। आप ने परम्परा के अनुसार प्रसंग को हृदयस्पर्शी और लोकग्राह्य बनाने के लिए उपर्युक्त हीनतापरक वाक्यों की निबन्धना की।

तुलसी साहित्य में नारी-निंदा रामभक्ति एवं मोक्षधर्म से प्रेरित होकर की गयी है। भक्ति का प्रमुख आधार वैराग्य परम्परा द्वारा मान्य है। वैराग्य से तात्पर्य विषय-वितृष्णा से है। मध्यकालीन समाज में पुरुष की कामरति का प्रमुख आलंम्बन नारी है। वैराग्य की

उत्पत्ति एवं धारणा के लिए काम, क्रोध, मद, लोभ का निरन्तर दोष-दर्शन आवश्यक है। तुलसी ने सैद्धान्तिक रूप से जिस नारी की निन्दा की है वह सामान्य नारी नहीं अपितु काम की आलम्बन रूप नारी है। किसी वस्तु के अवगुण एवं दोष का बारम्बार उल्लेख से ही उसके प्रति वितृष्णा एवं वौराग्य की उत्पत्ति की जा सकती है।

नारी -निंदा का उत्तरदायित्व स्मृतिकारों, पुराणकारों और सनातन धर्म के संस्थापक प्रसारक एवं पोषकों को भी जाना चाहिए। तुलसी पर इतना तो आरोप लगाया ही जा सकता है कि उन्होंने इस परम्परा का अनुसरण किया। राजनीतिक उथल-पुथल एवं सांस्कृतिक संघर्ष के उस युग में परम्परा के प्रति निष्ठा समाज की आश्यकता थी। 'नानापुराण निगमागम' के समर्थक तुलसी केसाहित्य में नारी-निंदा उनकी मौलिक कल्पना नहीं है। वैदिक एवं संस्कृत साहित्य में अनेकों स्थलों पर नारी निंदा की गयी है। योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण का एक सर्ग नारी निंदा से भरा पड़ा है। महाभारत का अनुशासन पर्व भी इससे अछूता नहीं है। भागवत पुराण, शिवपुराण, एवं वैराग्य शतक तक में ऐसी निंदा मिल जाती है। इस प्रकार देखा जाय तो तुलसी से पूर्व भारतीय वाङ्मय में जो नारी-निंदा मिलती है उसकी तुलना में तुलसी की उक्तियाँ कोमल हैं। अनेक स्थलों पर वे पराधीन नारी के प्रति भावुक हो उठे हैं। तुलसी को नारी-निंदक सिद्ध करने वाले आलोचकों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि राम से निरन्तर भक्ति का वरदान माँगते समय गोस्वामी जी भागवत प्रेम की अतिशयता व्यक्त करने के लिए कामी और नारी की उपमान रूप में योजना की है।

''कामिहिं नारि पिआरी जिमि लोभिहिप्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।।[33]

गोस्वामी जी भक्त के साथ-साथ समाज सुधारक भी थे। समाज व्यवस्था की दृष्टि से गुणधर्म का प्रतिपादन भी उनका ध्येय रहा है। यहाँ कवित्व और भक्ति-दर्शन की विवेचन ही नहीं हुआ अपितु नीति और लोकधर्म का भी। अपने अध्ययन, सतसंग एवं संस्कारों के अनुसर उनकी दृष्टि परम्परावादी है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। तुलसी जी के नारी विषयक दृष्टिकोण से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि मध्ययुगीन समाज के पुरुष स्त्री के प्रति कैसी अवधारणा रखते थे।

यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक जितना श्रद्धा और भक्ति, तुलसी साहित्य के प्रति पुरुष रखते हैं स्त्रियाँ भी उससे कम नहीं। तुलसी की नारी विषयक अवधारणा के कट्टर विरोधी पुरुष आलोचक हैं। एक दो महिला आलोचक हो सकती हैं। इनके ऐसे विचारों का विरोध समाज के सामान्य नारी द्वारा कभी नहीं हुआ। आधुनिक समाज जहाँ स्त्री व पुरुष को समान अधिकार प्राप्त हैं वहाँ भी पुरुष ही गोस्वामी जी के नारी विषयक विचारों का विरोधी है। क्या इसके पीछे भी पुरुषों की दम्भयुक्त अहम् भाव नहीं है,जो आज भी अपने को स्त्री अधिकारों का संरक्षक मानता है।

अनुक्रमणिका

1. 'मानस' – तुलसीदास, तृतीय सोपान, दोहा – संख्या – 35, पृष्ठ – 572, संस्करण –37वाँ, गीता प्रेस, गोरखपुर।

2. "मानस"–तुलसीदास, प्रथम सोपान, दोहा संख्या – 209, पृष्ठ संख्या –168.

3. "हिन्दू समाज के पथभ्रष्टक तुलसीदास," सम्पादक–विश्वनाथ, पृष्ठ संख्या – 57, प्रकाशक– विश्व विजय प्राइवेट लि०, कनाट सरकस, नई दिल्ली।

4. बालकांड, दोहा संख्या–211, पृष्ठ संख्या – 169, वही।

5. बालकांड, पृष्ठ – 179, वही।

6. हिन्दू समाज के पथभ्रष्टक तुलसीदास, सम्पादक विश्वनाथ, पृष्ठ–59, प्रकाशक विश्व विजय प्राइवेट लि०, कनाट सरकस, नई दिल्ली।

7. "रामचरित मानस"– गो० तुलसीदास, बालकाण्ड, पृष्ठ संख्या – 267.

8. वही, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ संख्या 296, दोहा संख्या 12.

9. वही, पृष्ट संख्या 296, 97.

10. वही, पृष्ठ संख्या – 298, दोहा संख्या – 14.

11. वही, पृष्ठ संख्या–299, दोहा संख्या –16.

12. "तुलसी ग्रन्थावली,"प्रथम भाग, पृष्ठ –221.

13. "कवितावली"–गो० तुलसीदास, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ सं०–13, 38 वां संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर।

14. "भक्तिकालीन राम एवं कृष्ण काव्य की नारी भावना", - डा० श्यामबाला गोयल, प्रथम संस्करण-1976, पृष्ठ संख्या-244, विभू प्रकाशन, शाहिबाबाद।

15. "मानस"-अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ संख्या, 301, दोहा सं०-18, शेष वही।

16. 'मानस'- अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ संख्या-312, शेष वही।

17. 'मानस'-अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ संख्या-335, शेष वही।

18. 'मानस'-अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ संख्या -335, शेष वही।

19. 'मानस'-अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ संख्या - शेष वही।

20. 'मानस'- अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ संख्या - 407, शेष वही।

21. 'मानस'- अरण्यकाण्ड, पृष्ठ संख्या - 536, शेष वही।

22. 'मानस'-अरण्यकाण्ड, पृष्ठ संख्या - 536, शेष वही।

23. 'मानस'-अरण्य काण्ड, पृष्ठ संख्या - 537, शेष वही।

24. 'मानस'-अरण्यकाण्ड, पृष्ठ संख्या - 537, शेष वही।

25. वही

26. वही

27. 'मानस'-अरण्यकाण्ड, पृष्ठ सं-550, शेष वही।

28. पृष्ठ संख्या -551, शेष वही।

29. "तुलसी : आज के सन्दर्भ में", पृष्ठ संख्या 104. शेष वही।

30. 'मानस'- अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ संख्या 329, शेष वही।

31. 'मानस'- किष्किन्धाकाण्ड, पृष्ठ सं-594, शेष वही।

32. 'तुलसी प्रतिभा'-सं० इन्द्रनाथ मदान, संस्करण-1971, पृष्ठ सं-141, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद।

33. 'मानस'-उत्तरकाण्ड, पृष्ठ सं.-908, दोहा सं.- 130 ख, शेष वही।

अध्याय - 5

सूरदास की स्त्री - विषयक चेतना

भक्तिकालीन कविता में मानवीय सम्बन्धों और भावों का जो रूप है वह तत्कालीन समाज व्यवस्था को प्रकट करता है। शासक की उपेक्षा और सत्ता का विरोध भी उसमें है। भक्तिकाव्य मिथ्या चेतना का शास्त्र नहीं है। इसमें जीवन जगत के बीच विकसित होने वाले मानवीय सम्बन्धों की प्रधानता है। भक्ति का सम्बन्ध भाव से है, हृदय से है। इस लिए भक्त कवि जीवन जगत के सौन्दर्य से आकर्षित होता है। मानवीय सम्बन्ध को ही अपनी काव्य साधना का मेरुदण्ड बनाता है भक्तिकालीन कविता में जहाँ जगत के मिथ्यात्व की धारणा का प्रभाव न्यूनतम है वहीं काव्य का चरम उत्कर्ष दिखायी देता है। भक्ति आन्दोलन में अद्वैतवाद और मायावाद के विरूद्ध पारिवारिक एवं सामाजिक यथार्थता की स्वीकारोक्ति है। यही कारण है कि भक्तों की कविता में जीवन जगत के वास्तविक रूप और सौन्दर्य का अंकन मुख्य है, वैराग्य भाव गौण।

सूर पारिवारिक प्रेम और मातृत्व की महिमा को व्यंजित करने वाले हिन्दी के प्रथम महाकवि हैं। गोचारण एवं कृषि प्रधान समाज में चित्रित गोपियों एवं राधा का प्रेम सामंती नैतिकता के बन्धनों से मुक्त है । उन्मुक्त प्रेम की परिकल्पना विवाह सम्बन्धी पारम्परिक एवं सामंती दृष्टिकोण की विरोधी है। स्त्री-प्रेम के सहज और उदात्त रूपों का जैसा वैविध्यपूर्ण चित्रण सूर-काव्य में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सूर का वात्सल्य वर्णन सामंती व्यवस्था के बीच माँ की महिमा को स्थापित करने का प्रयास है। सूर की कविता पारिवारिक जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न करती है। यहाँ अनुराग वैवाहिक जीवन से पूर्व का है तो बाद का भी।

सूर सामंती मूल्यों एवं मान्यताओं से भिन्न ढंग से प्रतिकार करते हैं। उनमें कबीर जैसी आक्रमता नहीं बल्कि निषेध के जरिये सांकेतिक विरोध है यहाँ राजवंशी नायक की दीर्घकालिक परम्परा को तोड़कर पशुपालक एवं गोचारक को नायकत्व सौंपा गया। मथुराधीश कृष्ण से तो गोपियों का नेह-छोह कम हो ही जाता है सूर का मन भी उनके वर्णन में नहीं रमता। मथुराधीश के प्रति गोपियोंकी खीझ दिल्लीधीश के प्रति जनता की आवाज है। मध्यकालीन समाज मुख्यतः नागर और ग्राम्य दो संस्कृतियों का संगठन था। नागर-संस्कृति में सामंत और श्रेष्ठि प्रमुख थे तो ग्राम्य-संस्कृति में उत्पादन से जुड़ी शासित जनता थी। इसमें सन्देह नहीं कि भक्त कवि शासित उत्पादक वर्ग से आये थे। सूर नैतिकता और निश्छलता को ग्रामीण संस्कृति से जोड़ते हैं। तो छल और प्रपंच को नागर-संस्कृति से। नागर-संस्कृति का अड्डा मथुरा , द्वारिका और काशी हैं तो ग्राम्य-संस्कृति का आदर्श गोकुल है। ग्राम्य-संस्कृति की स्त्रियों के लिए नगर से आया हर व्यक्ति छली व सन्देहास्पद है।

सूर साहित्य में मधुबन और बाँसुरी का महत्व एवं प्रभाव व्यापक है। मधुबन गोप गोपियों का औपचारिक मिलन केन्द्र है तो बाँसुरी प्रेमियों को आमंत्रित करने एवं प्रेम को उद्दीप्त करने का यन्त्र है। दरबारी और कीमती वाद्ययन्त्रों के युग में बाँसुरी को महत्ता प्रदान करना, गँवई संस्कृति का सम्मान करना है। सूर का काव्य पतनशील सामंती मूल्यों के निषेध का काव्य है। यहाँ रईसों की भोगवादी और शरीर सुखवादी जीवन शैली के प्रति इंकार का भाव है इसमें बहुपत्नी और हरम व्यवस्था पर तीखी टिप्पणी है। गोपियों का भ्रमरवृत्ति पर आघात प्रकारान्तर से सामंती भोगवाद पर प्रहार ही है।

नारी सूर-साहित्य की रीढ़ है भक्तिकाल के चौखट पर निर्गुण-साधक नारी को नरक कुण्ड और मोक्ष में बाधक मानते थे, दूसरी ओर रामभक्ति शाखा के लोगों को नारी की

स्वतंत्रता से बिगड़ने का भय रहता था। ऐसे परिवेश में नारी को पुरुष के समान सामाजिक हैसियत और मान प्रदान करना हौसले की बात थी । घर को बसाने और परिवार को बढ़ाने वाली नारी ही है। परिवार बनता है पत्नी से और बढ़ता है – मातृत्व भाव से। प्रेमिका के रूप में राधा, पत्नी और माता के रूप में यशोदा की भूमिका स्वतंत्र है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में यशोदा की सलाह को नन्द सर्वोपरि मानते हैं। स्नेह एवं सहयोग के बल पर सूर की नारी जो विशेषाधिकार प्राप्त करती है, पुरुष उसके सामने छोटा लगने लगता है।

नारी की स्थिति समाज के सभ्यता का पैमाना होती है। प्राचीन काल से नारी पुरुष की शिक्षिका और जननी मानी गयी है। सामाजिक विसंगतियों के कारण मध्यकाल में नारी की स्थिति जननी से भोग्या के स्तर पर आ गयी। जनमानस में सन्यास की प्रवृत्ति बढ़ने से स्त्री के प्रति उपेक्षा का भाव जागा। आम जनता से सीधे सम्पर्क में होने के कारण निर्गुण साहित्य में ऐसे विचारों की सर्वाधिक अभिव्यक्ति मिलती है। अंधकवि ने पतनशील सामंती व्यवस्था के अवगुणों को नंगी आँखों से देखा था इसी लिए वे न तो वर्णव्यवस्था को स्वीकार करते हैं और न ही नारी पराधीनता को। गोकुल के माध्यम से ऐसी व्यवस्था की कल्पना करते हैं जहाँ सभी पुरुष ही समान नहीं अपितु स्त्री भी पुरुष के समान अधिकारों की हकदार है । यहाँ समाजव्यवस्था एवं परिवार व्यवस्था दोनों का नया आदर्श प्रस्तुत किया गया है। सूर जैसा उदार हृदय रचनाकार ही यशोदा जैसी वात्सल्य-मयी जननी, राधा जैसी मनोवल्लभा एवं रसमर्मज्ञा गोपियों को नया व्यक्तित्व प्रदान कर सकता है। सूर से पूर्व कृष्ण- काव्य परम्परा में स्त्रियों का ऐसा प्रभावशाली व्यक्तित्व नहीं मिलता है। कन्या, प्रेमिका, पत्नी एवं माता नारी जीवन के विविध पड़ाव और स्वरूप हैं। सूर ने सबकी महिमा का गान पारिवारिक एवं सामाजिक सन्दर्भों में किया है। सूरसागर में

सबसे पहले अगर किसी कन्या का उल्लेख आता है। तो वह सुरकन्या है। यह कन्या वसुदेव द्वारा नंदभवन में लायी जाती है। सूरदास की नारी विषयक दृष्टि को इसीसे समझा जा सकता है कि वे इसे कन्या नहीं देवी सम्बोधन प्रदान करते हैं-

"तब वसुदेव उठे यह सुनतहिं, हरषवंत नँद भवन गये।

बालक धरि, लै सुरदेवी कौं, आइ सूर मधुपुरी ठए ।"[1]

यह वही देवी है जो कंस जैसे अत्याचारी और महाबली के हाथ से बच ही नहीं जाती अपितु उसे चेतावनी भी देती है । इसके व्यक्तित्व और चरित्र का वर्णन अन्य कवियों द्वारा भी नहीं किया गया है। सूरसागर में यह कन्या थोड़े ही देर के लिए प्रकट होती है इतने में ही इसका ओजस्वी व्यक्तित्व सामने आ जाता है।

सूर के ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य के नारी पात्रों में राधा अद्वितीय है "राधा का प्रथम स्पष्ट उल्लेख ब्रह्मवैवर्तपुराण में हुआ है इसमें श्रीकृष्ण ने राधा को अपना अर्धांश और मूलप्रकृति कहा है। राधा और कृष्ण में अभेद सम्बन्ध स्थापित करते हुए राधा को कृष्ण की पूरक शक्ति माना गया है।"[2] भागवत हरिवंश और विष्णु जैसे प्राचीन ग्रन्थ जहाँ से गोपाल कृष्ण की कथाएं अपने प्रारम्भिक रूप में मिलती है वहाँ भी राधा का नामोल्लेख नहीं है। "गाथा सप्तशती" और 'पंचतन्त्र' में राधा का नामोल्लेख आना इसके अस्तित्व को ईस्वी सन् से पहले सम्भव कर देता है। राधा आभीर जाति की प्रेम देवी रही होगी, जिसका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा।[3]

कृष्ण-काव्य परम्परा में सूर से पूर्व जो राधा का व्यक्तित्व और चरित्र उभरता है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राधा की उत्पत्ति और विकास का सम्बन्ध समाज के निम्न एवं मध्य वर्गीय जातियों से रहा है। राधा के साथ न तो कहीं दास-दासी

आते हैं और न ही उसके सिर पर मुकुट है। सखियों से उसका सम्बन्ध समानता के धरातल पर आदि से अन्त तक है- कृष्ण के हृदय की रानी बन जाने के बाद भी । वृषभानु अपने कुल के श्रेष्ठ एवं सम्मानित व्यक्ति थे फिर भी राधा को इसका अभिमान नहीं है। अभिभान भले न हो मगर उसके अन्दर भारतीय नारी का स्वाभिमान तो है ही । उम्र में बड़े परिवार एवं समाज के सदस्यों के सामने राधा का व्यवहार कहीं भी अमर्यादित नहीं है मधुबन में समवयस्कों के बीच मर्यादा का नामोनिशान नहीं बचता है वास्तविक और सहज प्रेम मर्यादा के साथ जिन्दा नहीं रह सकता । जयदेव की राधा में विलासभाव की अधिकता है तो चण्डीदास की राधा में उन्माद की। चण्डीदास की राधा के भाव मक्खन की पुतली के समान है, जिन्हें गलने में देर नहीं लगती है । कान्हा को ही अपना प्राण और जीवन मानती है। आपकी राधा को सामाजिक मर्यादा का ध्यान अधिक है इसी लिए उसे पद-पद पर सास-ननद का भय बना रहता है। विद्यापति की राधा चंचल किशोरी है अज्ञात यौवना है जिसके भाव क्षण-क्षण परिवर्तित होते रहते हैं। वयःसन्धि की अवस्था में है जहाँ शैशव और यौवन मिल रहे हैं। उसके पैरों की चंचलता आँखों में आ गयी, वार्तालाप चातुर्य से परिपूर्ण हो गया है। सूर की राधा इन सबसे भिन्न सरल बालिका है। "हिन्दी साहत्यि का उद्भव और विकास" ग्रन्थ में द्विवेदी जी कहते हैं कि सूर की राधा संयोग में सोलह आना संयोगमय है तो वियोग में भी सोलह आना वियोगविदग्ध है। संयोग के समय उसे वियोग का भय और सामाजिक मर्यादा का तनिक भी स्मरण नहीं आता है। सौन्दर्य एवं अन्य गुणों के कारण उसे 'ब्रजरानी' भी क़हा जा सकता है।

सूर की राधा में सरल एवं भावुक प्रेमिका के सारे गुण हैं कान्हा के सामने भी वह सरल है। गाते-नाचते और हिण्डोला पर झूलते समय अपने को ही नहीं पूरे समाज व्यवस्था को भूल जाती है गहन प्रेम का परिवेश मधुबन आनन्द और किल्लोल से भर जाता है।

विरह की अवस्था उसके अन्दर एक चेतना पैदा कर देती है जिससे गम्भीरता आ जाती है। सच्चे अर्थों में वह प्रेमिका है तभी तो गोपियों के समान उसमें उतावलापन नहीं है मिलन के क्षणों में वह लीलावतार लगती है तो विरह में करुणार्द्र मूर्ति भी।

राधा का कृष्ण से सम्बन्ध मात्र युवावस्था का नहीं है उनके सम्बन्ध बाल्यावस्था के हैं बाली उम्र के सम्बन्ध में ही प्रगाढ़ प्रेम का आभास मिलने लगता है। यह सम्बन्ध खेल, हँसी-रोदन, मान-अपमान के बीच विकसित होकर परिपक्व प्रेम का रूप धारण कर लेता है। इनका प्रथम मिलन भी कम चित्ताकर्षक नहीं है –

> "काहे कौ हम ब्रज -तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
>
> सुनत रहति स्त्रवननि नंद-ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी।
>
> तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संगमिलि जोरी ।
>
> सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी।"[4]

प्रथम मिलन युवावस्था का नहीं है जहाँ संकोच और काम भाव की प्रधानता रहती है। यह मिलन बाल्यावस्था का है जहाँ बालक-बालिका या स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है। वार्तालाप समान धरातल पर चलता है, जहाँ बड़े-छोटे का कोई सामाजिक भेद-भाव नहीं गौरवर्ण राधा आँखे विशाल, माथेपर रोरी, पीठ पर वेणी, नीलावस्त्र के आकर्षण से कौन रसिक अपने को बचा सकता है। प्रथम दर्शन में ही गिरिधर नागर 'नैन नैन मिलि परी ठगोरी' की स्थिति में आ जाते हैं। यह प्रथम दर्शन निर्मल, विशुद्ध, वासना से रहित और मानवीय प्रेम से युक्त हैं। यह मिलन और प्रेम सामाजिक दबाव, सामंती, अंकुश और ईश्वरीय महिमा से मुक्त है। मध्ययुगीन सामाजिक कुप्रथाओं से राधा का व्यक्तित्व अप्रभावित है। ऐसा सृजन सूरदास जैसा महाकवि ही कर सकता है। प्रथम मिलन के

सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय का कथन स्मरणीय है। "यहाँ जो प्रेम का प्रथम प्रकाश हुआ है वह सम प्रेम है दोनों के मन इस प्रेम यात्रा में सहयोगी है।"[5]

राधा के बाल सुलभ चातुर्य और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों को सूर ने बड़े ही स्वाभाविक ढंग से चित्रांकित किया है। प्रेम के परिपुष्ट होने पर वह रसकेलि के रहस्य को धीरे-धीरे समझ रही है। कृष्ण मिलन के बाद मन की बिकलता और चित्त की चंचलता धीरे-धीरे बढ़ने लगती है। दोनों एक दूसरे के यहाँ अधिक समय व्यतीत करने लगते हैं। वात्सल्यमयी यशोदा भी इस पर एकदिन आपत्ति प्रकट करती हैं- तेरे घर क्या कोई कार्य नहीं है, तू यहीं क्यों घूमती रहती है? कन्या की माँ को सर्वाधिक आपत्ति तब होती है जब वहकिसी लड़के के सम्पर्क में अधिक समय रहने लगती हैं राधा की माँ को लोक लाज एवं कुल-कानि का सदा ध्यान रहता है।कीर्ति कुल मर्यादा के अनुसार आचरण करने को कहती हैं-

"सुता लए जननी समुझावति ।

संग बिटियन कै मिलि खेलौ, स्याम-साथ सुनि-सुनि रिस पावति।

जातै निंदा होई आपनी, जातैं कुल की गारी आवति ।

सुनि लाड़ली कहति यह तो सै, तोको यातै रिस करि धावति ।"[6]

दोनों माताओं के कथन इस बात के अभिव्यंजक है कि कन्या का कार्यक्षेत्र घर के आस-पास तक ही सीमित था। नारी बाल्यावस्था में पर्दा और अन्य सामाजिक बन्धनों से मुक्त होती है। वह स्वतंत्रता पूर्वक सब जगह घूम फिर सकती है। गोप-गोपियों का एक साथ खेलना और वन में घूमना इस बात का द्योतक है कि मध्यकालीन समाज में छोटे लड़के और लड़कियों का परस्पर मिलना विशेष आपत्तिजनक नहीं माना जाता था। परन्तु उम्र

बढ़ने के साथ ही अभिभावक बालिका को घर से बाहर निकलने पर ध्यान देने लगते और उसे रोकने का प्रयास करते थे। कन्याओं को घर पर सहेलियों के साथ खेलने का परामर्श दिया जाता था। बालिकाओं का इधर-उधर घूमना लोग अपने कुल के लिए लज्जाजनक मानते थे। बारह वर्ष की उम्र पार करने पर बालिका को वयस्क समझा जाता था। इस उम्र में माँ बालिका को सिर ढकने एवं यत्र-तत्र न भ्रमणकरने की सलाह देती थी। राधा की माँ भी उसे ऐसी ही शिक्षा-दीक्षा प्रदान करती थीं।

राधा का व्यक्तित्व मध्यकालीन सामाजिक ढाँचे में नहीं अटता है प्रेम से लबालब भरी उसकलशी में कहीं भी छलक नहीं आयी। कुछ क्षणों के लिए ही सूर की राधा विद्यापति की भावभूमि पर आती है। राधा की दिनचर्या है- कृष्ण के साथ ह्रास-परिहास आँखों की लड़ाई, मुरली की चोरी, माखन की बँटाई। गोप-गोपियों के साथ सारा दिन हँसी खुशी में कट जाता है। संयोग के समय न तो सामाजिक मर्यादा का भय और न अमंगल और वियोग की चिन्ता। प्रेम-सम्बन्ध के विकास में राधा को पारिवारिक सहयोग भी मिलता है। यशोदा राधिका से परिचय पूछती है उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करती है- साथ ही उसका केश भी संवारती है। यशोदा का व्यवहार इस बात को प्रमाणित करता है कि शादी से पूर्व भी कन्या परिवार एवं समाज में सम्मान और सौन्दर्य की अधिकारी थी। कृष्ण काव्यपरम्परा में सूर से पूर्व राधा का परकीया रूपप्रचलित था। यह रूप सूरदास को स्वीकार्य नहीं था। रासलीला के प्रसंग में सूरदास द्वारा गन्धर्व विवाह का आयोजन किया जाता है राधा-कृष्ण का यह प्रेम-विवाह आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि साहचर्य जनित सम्बन्धों की सार्थक परिणति है इसकी भूमिका बचपन से ही तैयार होने लगती है। राधाकृष्ण की जोड़ी यशोदा एवं कीर्ति दोनों को स्वीकार्य है। ऐसे स्थलों पर राधा के अनन्य रूप को माधुर्य गुण से मिश्रित करके बड़े मनोयोग के साथ सूरदास द्वारा अंकित

किया गया है। रासनृत्य एवं जलक्रीड़ा जैसे प्रसंगों में राधा कृष्ण को पति-पत्नी रूप में व्यक्त किया गया है। यहाँ शब्द-भाव एवं दृश्य में परस्पर होड़ सी मची है-

"दुलहिनि दूलह स्यामा स्याम

कोल-कला व्युत्पन्न परस्पर, देखत लज्जित काम।

जा फल कौ व्रजनारि कियौ व्रत, सौ फल सबहिनी दीन्हौ ।"7

राधा के अन्दर वह सारा गुण है जो एक सामान्य स्वकीया नायिका में होता है। चण्डीदास और विद्यापति की राधा इतनी सामान्यता नहीं मिलती है चण्डीदास की राधा प्रेम को खोने के भय से मान नहीं कर पाती है। श्यामसुन्दर के मनोहर मुख को देखते ही उसका मन एवं मान पानी-पानी हो जाता है परन्तु सूर की राधा स्वकीया के गौरव गरिमा के साथ मान करती है। अनेक स्त्रियों से सम्बन्ध होने पर स्वकीया का नाराज होना जायज है।कृष्ण के बहुनायकत्व पर ही राधा क्रोधित होकर मान करती है,राधा के मान में ईर्ष्या, भ्रान्ति के साथ-साथ गर्व का भी दर्शन होताहै। सखियों के प्रयास करने पर जब राधा का मान भंग नहीं होता है तो कृष्ण दूती के वेश में मनुहार के लिए उपस्थित होते हैं मान लीला में राधा का स्वरूप एक गौरवशाली स्वकीया का है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ".... सूरदास की राधा मानिनी है - दारुण मानिनी ।"8

राधा का ही नहीं अपितु उनके प्रेमी कान्हा का परिवार भी श्रमजीवी समुदाय से सम्बद्ध था। राधा का प्रेम जीवन कर्म से अलग नहीं, साथ-साथ चलता है। गोदोहन गोचारण-संस्कृति का महत्त्वपूर्ण कार्य है। प्रेम की धार और घात इस कार्य में भी चलती रहती है। पशुचारण -संस्कृति के प्रारम्भिक चरण में गोदोहन का कार्य कन्या को सौंपा गया था इसीलिए उसको 'दुहिता' विशेषण भी दिया गया। राधा को भी यह जिम्मेदारी सौंपी गयी है

इसमें सहधर्मी हैं कृष्ण । कृष्ण एक धार दोहनी में तो दूसरी राधा के मुँह पर पहुँचाते हैं दुग्ध धवल मुख पर कृष्ण का रीझना और राधा का रसलीनता की दशा में उलाहना देना–

"तुम पै कौन दुहावै गैया?

इत चितवत, उत धार चलावत, एहि सिखायौ है मैया।"[9]

राधा के इस कथन से यह प्रकट होता है कि मध्यकालीन समाज में भी बच्चों की देखभाल करना माताओं का प्रमुख पारिवारिक दायित्व था। राधा के साथ अन्य गोपियाँ भी गोदोहन के साथ दही बेचने एवं पानी लाने का कार्य देखती हैं। हास-परिहास एवं रासलीला के साथ ये कार्य सम्पन्न होते हैं गोप सूर-साहित्य में मुख्य रूप से सिर्फ गोचारण का ही कार्य करते हैं। गोपियों की अपेक्षा इनके कार्य कम हैं और हल्के। प्रेम-मिलन औरहास-परिहास से कहीं भी सामुदायिक कार्यो में रूकावट नहीं आती है, आता है तो सिर्फ क्षणिक अवरोध।

गारूड़ी प्रसंग में कृष्ण चुम्बन –आलिंगन द्वारा राधा का विष तो उतार देते हैं यह देखकर अन्य गोपियों का काम बाण से घायल होना अत्यन्त स्वाभाविक है। यह उपचार की विधि ही ऐसी है जो देखने वाले को बीमार कर देती है।राधा को प्रेम पाते देख उनके मन में भी प्रेम औरकाम की आकांक्षा जाग उठती है।गोपियों के इस काम भाव का शमन दान-लीला और रास में होता है।काम स्त्री ही नहीं अपितु पुरुष-जीवन का भी सत्य है।काम को सौन्दर्याकर्षण और प्रेम की परिणति तो नहीं कहा जा सकता,परन्तु उसका सहगामी अवश्य है। सूर ने इसे एन्द्रिक तृप्ति का एक साधन मानकर प्रस्तुत किया है। ऐन्द्रिक तृप्ति और आत्मिक तृप्ति के संयोग से ही प्रेम अपनी पूर्णता की अवस्था को प्राप्त करता है अंधकवि

सूरदास मध्ययुगीन प्रेम सीमाओं को तोड़ते हैं। राधा ओर गोपियों के प्रेम में शरीर और आत्मा ऐन्द्रिकता और आध्यात्मिकता का समुचित संयोग है।पूरे सूरसागर में काम को पाप कहकर जीवन सच से आँख चुराने का प्रयास कहीं नहीं है। इतना अवश्य है कि काम का कहीं स्वतंत्र चित्रण नहीं है वह प्रेम-व्यापार का सहगामी बन करआता है। दानलीला, रासलीला, गारुड़ी प्रसंग के चित्रों में राधा-कृष्ण और गोपियों के शारीरिक मिलन के भी चित्र हैं। ऐसे स्थलों की व्याख्या आध्यात्मिक भाववेश में नहीं बल्कि लौकिक और मानवीय आधार पर होनी चाहिए। गारुणी कृष्ण के इस क्रिया-व्यापार का आध्यात्मिक अर्थ लगाना कितना उचित होगा-

"बड़ौ मंत्र किम्यौ कुवँर कन्हाई।

बार-बार लै कंठ लगायौ, मुख चूम्यौ दियौ घरहिं पठाई।"10

सूर को नारी मनोविज्ञान का पूर्ण ज्ञान ही नहीं है अपितु उसके क्रिया-व्यापार के साथ समाज-दर्शन की पूरी समझ भी है । राधा और गोपियों के जीवन में अवस्था दर अवस्था जो भाव परिवर्तन होता साथ ही उनके कार्यों पर जो सामाजिक प्रतिक्रिया होती है उसका मर्मस्पर्शी चित्रांकन सूरसागर में है। 'लरिकाई को प्रेम" में वह भावावेश नहीं है, जो किशोरावस्था के प्रेम में हैं यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि राधा की बाल्यावस्था की क्रीड़ाएं प्रायः निष्काम हैं तो किशोरावस्था की सकाम। रासलीला, दानलीला, बसंतोत्सव एवं कन्दुक क्रीड़ा में गोप-गोपियों के अनियंत्रित हाथ,चंचल नेत्र और प्यासे होठ की गति कामोत्तेजना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति ही है। राधा के उत्तेजक सौन्दर्य और कामातुर अंग संचालन को आध्यात्मिक परिधि में बाधना सम्भव नहीं । मिलन के समय राधा आधुनिक युग की प्रेमिका की तरह निर्भीक है। संयोग के क्षण में वह किसी प्रकार का व्यवधान स्वीकार नहीं करती है। आलिंगन के समय शरीर के आभूषण भी उसे स्वीकार्य नहीं हैं-

"उतारति है कंठनि तैं हार!

हरि हियमिलत होत है अन्तर, यह मन कियौ विचार ।

चुंबत अंग परस्पर जनु जुग चंद करत हित चार ।

दसननि बसन चाँपि सु चतुर अति, करत रंग-विस्तार ।

गुन सागर अरु रस सागर मिलि मानत सुख-व्यवहार ।"11

सूरसागर में राधिका आराधिका रूप में कम एक चतुर नायिका और समर्पित प्रेमिका के रूप अधिक व्यक्त हुयी है संयोग के समय की चंचलता वियोग की कठिन घड़ी में मौन में बदल जाती है। संयोग के समय राधा का व्यक्तित्व बहिर्मुखी है तो वियोग में अन्तर्मुखी । कृष्ण के साथ ही उसका सब कुछ चला गया है । वियोग के समय राधा का संयमित और तपस्वी व्यक्तित्व प्रकट होता है। जीवन के अन्तिम क्षण तक वह कृष्ण का इंतजार करने के लिए तैयार है ऐसे में योग का संदेश किसी भी नारी को मृतप्राय बना देगा। यह संदेश सुनकर किस समर्पित प्रेमिका का शरीर और मन वाद-विवाद के लिए तैयार होगा। प्रेम-क्रीड़ा-रस में भीगी साड़ी को धोना वह श्रेयष्कर नहीं समझती है। राधा घ्राण सुख के सहारे संयोगकालीन स्पर्श-सुख को बचाये रखना चाहती है यह कारुणिक दृश्य सूर के शब्दों में -

"अति मलीन वृषभानु-कुमारी

हरि स्रम-जल भीँज्यौं उर अंचल, तिहि लालच न धुवावति सारी ।

अध मुख रहति अनत नहीं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी

छूते चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौ नलिनी हिमकर की मारी।

हरि संदेश सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी।"12

एक ओर राधा है जो कृष्ण की याद को बनाये रखना चहती है तो दूसरी ओर कृष्ण जो अनेक पटरानियों के साथरहते हैं और ऊपर से योग का सन्देश भिजवाते हैं। यह करुण कहानी मात्र राधा की नहीं अपितु मध्यकालीन समाज में सामंती व्यवस्था से पीड़ित अधिकांश स्त्री की है राधा तो एक माध्यम है जिसके द्वारा सूर ने नारी हृदय की रसमग्र चरमदशा को तो व्यक्त किया ही है साथमेंअकेलेपन की व्यथा को भी। एक स्त्री के अन्दर प्रिय के स्मरण-स्पर्श एवं दर्शन के अलावा और कोई आकांक्षा नहीं होती, बोलने की भी नहीं। राधा पूरे 'भ्रमरगीत' में मौन रहती है राधा का मौन मध्यकालीन ही नहीं बल्कि आधुनिक समाज की उपेक्षित नारी की याद दिलाता है अगर पुरुष-प्रधान समाज स्त्री की बात को गौर से नहीं सुनता है, उसे मानना तो अलग है तो फिर बोलने व कहने से क्या लाभ? राधा के मौन में नारी जीवन की अनकही करुण कहानी है, जिसे कहकर पूर्णतः व्यक्त नहीं किया जा सकता है इस प्रसंग के काव्यत्व के सन्दर्भ में बलराम तिवारी का कहना है कि "कविता में जो अनकहा रह जाता है वहीं शायद उसका श्रेष्ठ मार्मिक अंश होता है।"[3]

पुरुष द्वारा उपेक्षित और प्रताड़ित किये जाने पर भी स्त्री उसे देवता की तरह मानती है भारतीय समाज में तलाक देने के बाद भी पति के प्रति स्त्री अमंगल नहीं सोचती । अपने जीवन के कष्टों को वह भाग्य की देन मानती हैं । कृष्ण को गोपियाँ बहुत कुछ कहती हैं-नागर,छलिया,रसलम्पट,भ्रमर। मगर राधा कोई अशोभनीय विशेषण नहीं प्रयोग करती है गोपियाँ वियोग का कारण कृष्ण को मानती हैं मगर राधा इसके लिए भाग्य को उत्तरदायी मानती है- अपने प्रेम में ही खोट समझती है।

"सखी री, हरिहिं दोष जनि देहु।

ताते मन इतनोदुःख पावत मेरोइ कपट सनेहु ।

क्योंकि :

तदपि सखी ब्रजनाथ बिना उर फाटि न हो बड़ बेहु।''14

गोपियाँ जिस समय कृष्ण को दोष देना प्रारम्भ करती हैं उस समय राधा-प्रेम की अनन्य देवी के रूप में हमारे सामने आती है।राधा के अन्दर भारतीय प्रेमिका के अनेक गुण हैं इसीलिए वह न सिर्फ पाठकों का सबसे अधिक आदर पाती है अपितु आलोचकों द्वारा भी सम्मान की अधिकारी है। राधा सूरदास की मौलिक सृष्टि ही नहीं अपितु हिन्दी साहित्य की प्रेमिकाओं में सर्वोच्च पद की अधिकारी भी है। सूर पहले ऐसे महाकवि है जो सामान्य कुल एवं जाति की कन्या को अपने प्रेमकाव्य के प्रमुख पात्र के रूप में चुनते हैं। वह किसी प्रतापी राजा की बेटी नहीं अपितु गोकुल की वीथियों में भ्रमण करने वाली गोपी है,राधा के चरित्र एवं व्यवहार में कहीं भी अभिजात्य का दर्प नहीं। शास्त्रीय दृष्टि से एक नायिका में जितने गुणहोने चाहिए उसमें से कुछ ही गुण राधा में है फिर भी वह भारतीय साहित्य की श्रेष्ठ नायिकाओं में स्थान रखती है।उसका व्यक्तित्व शाहजादी का नहीं अपितु एक भोली-भाली सामान्य बालिका का है।उसके अन्दर परम्परागत नायिका का एक ही प्रमुख गुण मिलता है-वह अपने प्रेमी को अंतरंगता की अन्तिम सीमातक चाहती है।

गोप-गोपियों के माध्यम से सूर ने भारतीय साहित्य में पहली बारसामान्य स्त्री-पुरुष को प्रतिष्ठा दिलायी। सूरसागर के नायक एक सामान्यग्रामवासी के रूप में हमारे सामने आते हैं। जब वहीं कृष्ण नगरवासी बन जाते हैं,द्वारिकाधीश बन जाते हैं तो उनके प्रति गोपियों का ही नेह-छोह कम नहीं होता बल्कि चित्रांकन में सूर का मन भी नहीं लगता। पाठक की सहानुभूति भी गिरधर नागर प्राप्त करता है, माखनचोर प्राप्त करता है,न कि द्वारिकाधीश । उद्धव पंडित भी हैं और नगरवासी भी उन्हें जब गाँव की गँवार ग्वालिन

पराजित करती हैं तो सूर-साहित्य में समाजवादी और मानवतावादी मूल्यों की एक साथ स्थापना होती है।

नर–नारी की जैसी समानता और एकता सूर के गोकुल लोक में मिलती है वैसा अन्यत्र दुलर्भ है जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवताओं का रमण होता है- इससे मिलते–जुलते कथन के बावजूद शायद ही कभी नारी की पूजा की गयी हो। भक्तिकाव्य में तो अनेक स्थानों पर उसको अवगुण की खान, ताड़ना का अधिकारी, परछाई से भुजंग को अंधा कर देने वाली कहा गया है। आधुनिक कवि को भी आँचल में दूध और आँखों में पानी लिए श्रद्धामय दिखायी देती है। साहित्य और समाज से सम्बद्ध नारी मुक्ति आन्दोलन और स्त्री-पुरुष समानता के समसामयिक नारों की प्रथम अनुगूंज सूरकाव्य में सुनाई पड़ती है। नारी को पुरुष के समान हक एवं भाव दिलाने का प्रयास सूर ने किया और माध्यम बने राधा-माधव—

"राधा माधव भेंट भई ।

राधा माधव, माधव राधा, कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई।

माधव राधा रंग राँचे, राधा माधव रंग रई।

माधव राधा प्रीति निरंतर, रसनाकरि सो कहि न गई।"[15]

राधा का माधव होना और माधव का राधा होना नारी के धरातल पर नर का और नर के धरातल पर नारी के आना उदात्तभावों से पूर्व क्रान्तिकारी रूपायन है। मध्कालीन साहित्य और समाज के सन्दर्भ में यह उद्भावना नितांत प्रगतिशील है। स्त्री–विमर्श से प्रभावित आधुनिक साहित्य में भी ऐसे भावपूर्ण लेखन का अभाव है। समसामयिक लेखन में आम आदमी और स्त्री-विमर्श की चर्चा जोरों पर है। उसे आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व

राधा और कृष्ण के माध्यम से सूर ने प्रतिष्ठा दिलायी। कृष्ण न तो किसी चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र हैं और न ही उन्हें शिकार का शौक है, वे मिट्टी में खेलते हैं, गाय चराते हैं और माखन रोटी खाते हैं। प्रेमचंद से पूर्व साहित्य में आम जन की प्रतिष्ठा सूर-साहित्य में मिलती है।

भ्रमरगीत में सगुण और निर्गुण का संघर्ष नहीं बल्कि स्त्री और पुरूष के हक एवं मान-सम्मान की लड़ाई है। यह प्रतिस्पर्धा एक और अनेक के बीच भी चलती है। ज्ञान के रथ पर सवार होकर नगर से आये उद्धव गवार ग्वालिनों द्वारा पराजित किये जाते हैं। उद्धव अकेले हैं गोपियाँ अनेक, अत: यह जनतान्त्रिक बहुसंख्यक वर्ग की विजय है। स्त्री-स्वतंत्रता जैसा आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्य भी यशोदा, राधा एवं अन्य गोपियों के चरित्र एवं व्यवहार में प्रकट हैं। गोपियों को विरह में जलना मरना कबूल है पर मान-सम्मान त्यागकर मथुरा जाना पसन्द नहीं। गोपियों के वियोग को मथुरा और ब्रज की दूरी के आधार पर नहीं बल्कि ह्रदय के भाव और वेदना के आधार पर आँका जाना चाहिए । विषम परिस्थितियों में एक कमरे में भी वियोग सम्भव है मथुरा में जाकर भी गोपियां कृष्ण से गोकुल की तरह नहीं मिल सकती थी । इसलिए उनका नहीं जाना ही उचित था। गोकुल में गोपियां पूर्णत: स्वतंत्र है इसलिए समता का उपयोग करती है। गोपियों को घर से खरिक तक और खरिक से पनघट -वृन्दावन में आने-जाने में कोई रोक-टोक नहीं है। सूर स्त्री स्वतंत्रता की नारेबाजी नहीं करते अपितु पात्रों द्वारा उसे चरितार्थ करवाते हैं । पूरे सूरसागर में गोपियों और यशोदा की न तो कहीं पूजा होती है और न ही वे सात पर्दो की ओट में रहती है। बाहर से आये पंडित पुरुष उद्धव से गोपियाँ सामने बैठ कर तर्क-वितर्क करती हैं। पर्दा तो वे नहीं ही रखती हैं बल्कि अपने ह्रदय गत जिन भावों को व्यक्त करती हैं, उसे आधुनिक समाज की सम्भ्रान्त स्त्री भी छिपाना चाहती है।

सूर के वात्सल्य चित्रों से कान्हा से अधिक मान यशोदा का बढ़ा मातृत्व का आदर नारित्व का सम्मान है मध्ययुगीन समाज में नारी को कोई सामाजिक-आर्थिक औकात नहीं थी। नारी मोक्ष के मार्ग में बाधक और कनक-कामिनी कहकर दुत्कारीजाती थी। जिस समाज में नारी जीवन को अनेक कुप्रथाओं ओर मर्यादाओं से बाँध दिया गया है ऐसे परिवेश में सूर का आराध्य नन्द से अधिक प्रेम एवं सम्मान यशोदा को देते हैं। पात्र के रूप में भी यशोदा नन्द से अधिक महत्त्व रखती है । पूरे हिन्दी साहित्य में सूर तनहा कवि हैं जो सबसे अधिक ऊर्जा और प्रतिभा मातृत्व और नारी के हृदयगत भावों के अंकन में खर्च किये यह अकारण नहीं गौर करने की चीज है।

सामान्य नारी की भारतीय समाज में कोई स्वतंत्र पहचान नहीं वह सिर्फ सम्बन्धों के माध्यम से जानी जाती हैं। बाल्यावस्था में किसी की पुत्री के रूप में, शादी के बाद पत्नी के रूप में और पति के मृत्योपरान्त किसी की माता के रूप में वृद्धावस्था में मरने से पूर्व ही वह माता-पिता द्वारा दिये गये नाम को भी भूल जाती है। ऐसे में समाज के अन्य लोग उसका नाम कैसे याद रख पाते । यशोदा और राधा का बार-बार स्वतंत्र नामोल्लेख आता है। सूर उन्हें पत्नी और पुत्री के सम्बन्धों में बांधकर सिर्फ नहीं देखते बल्कि उन्हें स्वतंत्र पहचान देते हैं। गोपियों तक का व्यक्तित्व पारिवारिक दबाव से मुक्त है । प्रेम और विवाह जैसे व्यक्तिगत और आन्तरिक मामलों में उन्हें स्वयं निर्णय लेने का अख्तियार है। गोपियाँ दिन में पनघट पर छेड़छाड़ का आनन्द ही नहीं उठाती अपितु रात-रात भर रासलीला का रसपान भी करती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गोकुल के स्वछंद प्रेम-लीलाओं का संसार मध्यकालीन भारतीय समाज से कोई वास्ता नहीं रखता मगर इसका सम्बन्ध सदियों से स्त्री के हृदय में दबे आकांक्षित संसार से निश्चित है। अंधे कवि सूर नारी के हृदयगत इन भावों को

कल्पना के सहारे मूर्त किये । कवि का प्रयोजन नारी की स्वतंत्रता जैसे मौलिक अधिकारों के प्रति समाज को सचेत करना है। सूर के नारी पात्र अपने युग से भले ही कम प्रभावित हो मगर आधुनिक युग की नारी उनसे अवश्य प्रभावित है।"वह जानता है कि एक युग का इच्छित कल्पना संसार हो अगले युग का वास्तविक संसार बनता है।"[16]

मध्यकालीन नारी पात्रों की यह विडम्बना है कि उन्हें कभी कर्मठ एवं प्रबुद्ध व्यक्तित्व के रूप में नहीं देखा गया। मध्ययुगीन ही नहीं बल्कि आधुनिक समाज में भी नारी को परखने का प्रमुख मापदण्ड चारित्रिक शुद्धता और यौन-सुचिता है।सूर भी ऐसे विचारों से आंशिक रूप से अवश्य प्रभावित हैं।कृष्ण की बहुनिष्ठता और गोपियों की एकनिष्ठा को इस सन्दर्भ में भी देखा जाना चाहिए। इसके साथ यह भी सत्य है कि जिस सामंती समाज में नारी के व्यक्तित्व और चरित्र पर खतरे मँडरा रहे थे, सूर उन खतरों के बीचोबीच से गोपियों के द्वारा नारी स्वाभिमान एवं सम्मान को जगाने का प्रयास करते हैं। प्रेम ही नहीं बल्कि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी बराबरी के हिमायती हैं सूर। विरह वेदना से राधा तो बावली है ही मगर गोकुल की अदना सी गोपी की विह्वलता भी सूर को कम व्यथित नहीं करती है।

लोक और वेद की मर्यादा को एक साथ तोड़ने के साहस मध्यकाल के किसी अन्य कवि के नारी पात्रों में नहीं मिलता। गोपियों ने शास्त्र के अध्ययन और आन्दोलन से नहीं इसे ग्राम्य समाज की सरलता, सहजता और अल्हड़ता से तोड़ा है। हृदयगत मानवीय भावों से संचालित गोपियाँ किसी प्रकार की मर्यादा और सीमा की कायल नहीं। गोपाल की तृप्ति में ही गोपियों की सन्तुष्टि है। सभी गोपियाँ कान्हा से प्रेम करती हैं, मगर परस्पर द्वेष भाव कभी नहीं इतना ही नहीं संयोग-लीला में एक दूसरे का दूती के रूप में सहयोग भी करती हैं। वहीं गोपाल जब मथुरा चले जाते हैं वहाँ कृष्ण बन जाते हैं तो गोपियों को पटरानी तो

पटरानी कुब्जा का सानिध्य भी स्वीकार नहीं। लोक-संस्कृति से उपजा प्रेम जब नगरी संस्कृति में पहुँचता है तो सूर के नारी पात्र भी उससे अप्रभावित कैसे रह सकते हैं। प्रकृति के उन्मुक्त परिवेश में ही प्रेम सहज, प्राकृत और बन्धनमुक्त रह सकता है। ऐसे परिवेश में प्रेमावेग से सामाजिक बन्धन का बाँध ध्वस्त होकर बह ही जायेगा।

गोपियों को न तो यश-अपयश का भय है और न ही शास्त्र ज्ञान की अज्ञानता के कारण हीनभावना । गोपियाँ उन्मुक्त अंदाज में सज-धजकर रासलीला एवं बसंतलीला में भाग लेती हैं। उनमें कहीं भी स्त्री होने और कुन्ठा का भाव नहीं अगर कोई भाव है तो समानता का,स्वतंत्रता का।आज भी ब्रज की होली दर्शनीय है जहाँ स्त्री-पुरुष स्वच्छंद भाव से बसन्तोत्सव और मदनोत्सव मनाते हैं । सूर ने ऐसे अनेक स्थानों पर लोक के कलात्मक जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति की है-

"गोकुलनाथ बिराजत डोल ।

संग लिए वृषभानु-नंदिनी, पहिरे नील निचोल।

कंचन खचित लालमनि मोती, हीराजटित अमोल।

झुलवहिं जूथ मिलै ब्रजसुन्दरि, हरषित करत कलोल।

खेलति हसतिं परस्पर गावति बोलति मीठे बोल।"17

सूरसागर में यशोदा का व्यक्तित्व आदर्श एवंअधिकार सम्पन्न पत्नी के रूप उभरता है।गोपियाँ लोक परम्परा को तोड़ने के लिए अमादा है तो यशोदा गोकुल की लोक परम्परा को लेकर चलने के लिए उत्सुक हैं। कृष्ण जन्म के आनन्दोत्सव में ब्रज की सम्पूर्ण नारियों को आदर के साथ आमंत्रित करती हैं। इस आमंत्रण और उत्सव में जाति और वर्ग

के अनुसार कोई व्यवस्था नहीं है। आयोजन की सूत्रधार यशोदा ही हैं। यहां यशोदा के हृदय के समतामूलक एवं उदार भाव प्रकट हुए हैं । ऐसे अनेक सामूहिक आयोजनों में यशोदा का उदार–नारी–हृदय हमारे सामने प्रकट हुआ है।

यशोदा कृष्ण की माखन चोरी पर अधिक नाराज होती है और डाटती हैं लेकिन चित्त चोरी जैसे मामलों में सिर्फ मीठी घुड़की ही देती हैं। उम्र बढ़ने के साथ पुत्र के भुलावे में अधिक आने लगती हैं कहीं-कहीं तो कृष्ण के प्रेम सम्बन्धों में सहयोगी की भूमिका भी अदा करती हैं-जैसे राधा का श्रृंगार करना, उसे नये कपड़े देना और कृष्ण को साथ जाने की अनुमति प्रदान करना आदि । राधा के साथ सभी गोपियों के लिए उनके हृदय में स्नेह एवं मंगलमय कामनाएँ हैं। कृष्ण - गोपी सम्बन्धों को लेकर जहां उनके विचार प्रगतिशील हैंवहीं इन्द्र पूजा को स्वीकार करने में परम्परावादी भी लगते हैं। मैनेजर पाण्डेय कहते हैं "राधा कृष्ण प्रसंग में यशोदा के उदार चित्त,संवेदनशील मानस एवं स्नेहित हृदय की अभिव्यक्ति हुई है। "18

सूरसागर में स्त्री के स्वभाव एवंचरित्र का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक निरूपण हुआ है।रूक्मिणी राधा, यशोदा ही नहीं ब्रज की अदना सी गोपी का व्यक्तित्व भी कम प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण नहीं है। यहाँ स्त्री के पारिवारिक औरसामाजिक जीवन के विविध रूपों का चित्रण है मध्यकाल ही नहीं बल्कि आधुनिक युग में आदर्श पत्नी, माता, पुत्री, प्रेमिका का जो स्वरूप है. उसे सूरसागर में अभिव्यक्ति मिली है। मातृ हृदय के स्वभाव एवं व्यवहार का जैसा विशद चित्रण सूरसागर में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पुरुष पात्रों में केवल कृष्ण का व्यक्तित्व ही प्रभावशाली रूप से प्रकट हुआ है। वसुदेव, नंद, बलराम, कंस, अक्रूर और उद्धव का व्यक्तित्व और चरित्र सम्पूर्णता के साथ उद्घाटित नहीं हो सका है।

सूर की सृजनशलीता का महत्वपूर्ण पहलू अविस्मरणीय स्त्री चरित्रों का निर्माण भी है। जिन रचनाकारों ने नारी चरित्र का सहृदयता के साथ प्रभावशाली ढंग से चित्रांकन किया, उनकी कृतियाँ निश्चय ही कालजयी बनीं, सूर के प्रसिद्धि का कारण हैं- राधा-गोपी और यशोदा। यहाँ तक कि सामंती परिवेश में जकड़ी रूक्मिणी का योगदान कम ही है। सूरदास के नारी पात्र समय और समाज की वास्तविकता ही नहीं बल्कि सम्भावना के प्रतिनिधि भी है। सूरदास जिस दरबारी समाज में रचनाशील थे उसमें मनुष्य से अधिक नियम कानून का महत्त्व था। स्त्रियों पर तो और भी जटिल बन्धन थे। यशोदा, राधा और गोपियों का चरित्र व व्यक्तित्व अमानवीय व्यवस्था के बीच मानवता की रक्षा के सार्थक प्रयत्न का साक्षी है।

सूरसागर के सैकड़ों पदों के बीच से नन्द, यशोदा और गोपाल के माध्यम से सुखी गृहस्थ जीवन की स्वस्थ छवि हमारे सामने ऐसे समय उभर कर आती है-जब समाज में संयास लेने की प्रवृत्ति जोरों पर थी। गृहस्थ जीवन की महिमा का वर्णन एक प्रकार से नारीत्व के महिमा का ही वर्णन है।ऐसे स्थलों के चित्रांकन में सूर पुष्टि मार्ग के बन्धन को तोड़ देते हैं। वात्सल्य-चित्रण और भ्रमरगीत जैसे अनेक स्थलों पर सूर ने नारी की अस्मिता के सवाल को बडे ही मुखर ढंग से उठाया है। मध्यकालीन समाज में घर की चहारदीवारी में घुटती नारी की स्थिति पर ध्यान दें, भोगवाद की सामंती मनोवृत्ति को गौर से देखें इसके बाद कुण्ठित और शोषित नारी की आकांक्षा का अंदाज लगाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में शिवकुमार मिश्र का कहना है - "सामाजिक और मानसिक मुक्ति के लिए छटपटाती हुई नारी की कुचली हुई अस्मिता को सूर ने अपने प्रेम-शृंगार के माध्यम से उसकी समस्त आकांक्षाओं के साथ हमारे सामने मूर्त करते हैं। यह नारी मन में छिपी आकुल प्यास है जिसे सूर ने 'पहचाना उभारा और गहराई तक जाकर सराहा है।"[19]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सूर स्त्री मनोभाव और आकांक्षा के प्रथम महाकवि हैं। मध्यकाल में स्त्रियों के सन्दर्भ में ऐसी प्रगतिशील विचारधारा का कोई दूसरा कवि नहीं। सूर का मूल्यांकन जब हम सम-सामयिक परिस्थितियों को केन्द्र में रखकर करते हैं तो इनकी महत्ता और बढ़ने लगती है। नारी हृदय में मातृत्व की जो लहरें हिलोरा मारती हैं और पुरुष-प्रेम की जो आकांक्षा बनी रहती हैं ऐसे भावों की बाढ़ सूर के दिलो-दिमाग में कैसे आयी, इस विषय पर अभी भी अनुसंधान की आवश्यकता बनी हुई है।

अनुक्रमणिका

1. डा0 धीरेन्द्र वर्मा – "सूरसागर सार सटीक" पृ0 सं0 47 संस्करण – 2002 प्रकाशक – साहित्य भवन प्रा0 लि0 जीरोरोड, इलाहाबाद।

2. डा0 राम स्वरूप आर्य, डा0 गिरिजा शरण अग्रवाल – "सूर साहित्य सन्दर्भ", सूर पंचशती समारोह समिति, बिजनौर, उ0प्र0

3. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –"सूर साहित्य", पृ0 संख्या 28, तृतीय संस्करण 1989, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि, दरियागंज, नयी दिल्ली।

4. डा0 धीरेन्द्र वर्मा "सूरसागर सार सटीक" पृ0 संख्या 146, शेष वही।

5. डा0 मैनेजर पाण्डेय, "भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य" पृ0 संख्या 131, तृतीय संस्करण 2001 वाणी प्रकाशन दरियागंज, नयी दिल्ली।

6. डा0 धीरेन्द्र वर्मा, "सूरसागर सार सटीक" पृ0 संख्या 161, शेष वही।

7. डा0मैनेजर पाण्डेय,"भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य" पृ0 सं0 137, तृतीय संस्करण 2001 वाणी प्रकाशन दरियागंज, नयी दिल्ली।

8. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी,"सूर साहित्य" पृ0 सं0 86, शेष वही।

9. डा0 बलराम तिवारी,"सूर की काव्य चेतना" पृ0 संख्या 39, संस्करण 1999, अभिव्यक्ति प्रकाशन, गोविन्दपुर, इलाहाबाद।

10. डा0 धीरेन्द्र वर्मा – "सूरसागर सार सटीक " पृ0 संख्या 153, शेष वही।

11. डा0 बलराम तिवारी,"सूर की काव्य चेतना" पृ0 संख्या 41, संस्करण 1999, अभिव्यक्ति प्रकाशन, गोविन्दपुर, इलाहाबाद।

12. डा0 धीरेन्द्र वर्मा– "सूरसागर सार सटीक" पृ0 संख्या 324, शेष वही।

13. डा0 बलराम तिवारी – "सूर की काव्य चेतना" पृ0 संख्या 98, संस्करण 1999, अभिव्यक्ति प्रकाशन, गोविन्दपुर, इलाहाबाद।

14. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –"सूर साहित्य" पृ0 संख्या 88, 89, शेष वही।

15. डा0 धीरेन्द्र वर्मा, "सूरसागर सार सटीक" पृ0 संख्या 362, शेष वही।

16. डा0 बलराम तिवारी – "सूर की काव्य चेतना" पृ0 संख्या 45, संस्करण 1999, अभिव्यक्ति प्रकाशन, गोविन्दपुर, इलाहाबाद।

17. डा0 धीरेन्द्र वर्मा – "सूर सागर सार सटीक" पृ0 सं0 210, शेष वही।

18. डा0 मैनेजर पाण्डेय – "भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य" पृ0 सं0 149, शेष वही।

19. डा0शिवकुमार मिश्र –"भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य" पृ0 सं0 89, शेष वही।

अध्याय - 6

जायसी की स्त्री - विषयक चेतना

जायसी का युग सांस्कृतिक संघर्ष और सामाजिक समन्वय का था। इस्लाम के आगम का साधन न सिर्फ आक्रमणकारी थे अपितु व्यापारी भी। निर्गुण सन्त और सूफी साधकों ने हिन्दू तथा इस्लाम धर्म के आडम्बर को हटाया। जिससे दोनों धर्मों की साधारण जनता के बीच एक-दूसरे के निकट आने और समझने का भाव पैदा हुआ। जायसी जैसे सहृदय सूफी इस प्रक्रिया को और गति प्रदान करते हैं, अपनी धार्मिक आस्थाओं को कायम रखते हुए । वह इसलिए ऐसा कर सके क्योंकि मजहबी मान्यताओं और धार्मिक उसूलों को स्वीकार करने के साथ अपने को मानव और प्रेमी मानते थे। इस प्रकार जायसी सच्चे अर्थो में सेक्यूलर थे। धर्म विशेष से कोई सम्बन्ध न रखना सेक्यूलर का अर्थ नहीं हो सकता। इसका अर्थ है अपने धर्म में श्रद्धा रखते हुए दूसरे के धर्म का सम्मान करना। कबीर जैसे सहृदय समाज सुधारक और सूर जैसे उदार भक्त भी दूसरे सम्प्रदाय पर वार करने में नहीं चुके।

जायसी जहाँ भी अन्य धर्म और समाज का वर्णन करते हैंउसमें कहीं भी परायापन नहीं मिलता। उनका वर्णन आदि से अन्त तक मनुष्यत्व की सामान्य भाव-भूमि पर चलता है अवधी संस्कृति की सोधी गन्ध सामन्ती वैभव से लेकर ग्राम्य चित्रण तक में हैं ग्रामीण समाज में रहे थे और किसान का जीवन व्यतीत किये थे। इसी कारण ऐसे वर्णन में अनुभव की सच्चाई और प्रमाणिकता मिलती है। यहाँ सामंती वैभव और विलास का ही वर्णन नहीं मिलता अपितु ग्रामीण समाज के यथार्थ व विरूपता का बोध भी होता है यह विशेषता सिर्फ जायसी की नहीं अपितु भक्तिकाल के अधिकांश कवियों की है।

अवध का लोक जीवन कहाँ माधुर्य और कहाँ कड़वाहट लिए हुए है, दीर्घ साहचर्य के नाते जायसी को इसका पक्का अनुभव था। वे मूलतः एक ग्रामीण इन्सान थे और इसी दृष्टि से वे रत्नसेन, अलाउद्दीन, राघवचेतन एवं गोरा बादल को ही नहीं देखे अपितु नागमती, पद्मावती और राजमाताओं को देखे। वर्णन प्रकृति का हो, कल्पनालोक (सिंहलगढ़) या यथार्थ-लोक का उनकी निपट ग्रामीण दृष्टि का ही परिचय देता है। भाषा में तो अवधी की मिठास है ही उपमान एवं प्रतीक-योजना, कथन-शैली और पात्रों के मनोभाव भी इससे अछूते नहीं हैं। जायसी का समय न तो वन में धुमी रमाने में और न ही सूफी मठों में साधना करने में व्यतीत हुआ था। आप का अधिकांश समय ग्रामीण समाज के साक्षात्कार में व्यतीत हुआ था। इनका नितान्त आत्मीय सम्बन्ध राजमहलों से नहीं साधारण जनता से था। प्रेमाश्रय काव्यधारा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि की सम्पत्ति है-जन मानस में पैठ।

आपके रचनासंसार में फल-फूल, पशु-पक्षी, कृषि के औजार जैसे ग्रामीण समाज की वस्तुओं का जब उल्लेख आता है तो बहुआयामी अनुभव का पता चलता है। भारतीय नारी द्वारा मनाये जाने वाले तीज त्यौहार, उत्सव पर्व एवं रीति रिवाज का वर्णन बड़े विश्वसनीय एवं आत्मीय अंदाज में जायसी करते हैं। लोकजीवन का ऐसा पारखी और सहृदय कवि अवध की गंगा जमुनी-संस्कृति में ही रच और रम सकता है।आप के रचना संसार में एक ओर स्त्री प्रेम है तो दूसरी ओर उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष भी एक ओर मानवीय अनुभूति का कोमल संस्पर्श है तो दूसरी ओर इतिहास की टकराहट, निष्पक्षता हर ओर है। निष्पक्षता का कारण है जायसी की स्वतंत्रता। जायसी का नामोल्लेख न तो तत्कालीन दरबारी ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता है और न ही सूफी सन्तों की परम्परा में । अतः जायसी शासन दोनों के शिकंजे से मुक्त थे।

सन्तकवि जायसी को परदुःखकातर और इंसानियत से परिपूर्ण हृदय मिला था उनका प्रमुख महाकाव्य 'पद्मावत' न सिर्फ अलौकिक संकेत देता है अपितु मध्यकालीन समाज की करूणगाथा को भी प्रस्तुत करता है। 'पद्मावत' में दाम्पत्यप्रेम का दुखद चित्रण के साथ मानव समाज के प्रत्येक क्षेत्र की त्रासदी व्यंजित हुई है । हिन्दी साहित्य की परम्परा में उन चंद कवियों में से एक जायसी भी हैं जिनके यहाँ विधि निषेधों को तोडकर मानवीय पीड़ा की पक्षधरता है। यहाँ धार्मिक मताग्रह पर दुःख कातरता को कहीं रोक नहीं पाता, सैद्धान्तिक आधार पर प्रस्तुत 'पद्मावत' का रूपक बीचमें अनेक स्थानों परमानवीय पीड़ा और कवि करूणा से टूटता है। सामाजिक यथार्थ का अनुभव रूपकतत्व पर बार-बार प्रहार करता है नागमती जिसे रचनाकार ने 'दुनिया धन्धा' कहा है पाठक की सहानुभूति सर्वाधिक उसी के साथ जुड़ती है।

समाज के हर वर्ग के स्त्री को अपनी सुन्दरता पर अभिमान और गर्व होता है राजरानी नागमती भी इससे अछूती नहीं तभी तो उसने सुग्गे से पूछी-मेरे समान दुनिया में है कोई सुन्दर? सिंघल द्वीप की स्त्रियों और पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन सुनते ही वह सशंकित हो गयी । पत्नी के रहते हुए सुन्दर स्त्री पर आसक्त होना और धावा बोलना मध्यकालीन सामंती समाज की मनोवृत्ति थी इसीलिए नागमती ने हीरामन तोते को मार डालने का उपक्रम किया। भेद खुलने पर उसने तोते को तो वापस कर दिया परन्तु उसके कथन नारी की असहायता और पुरुष की स्वेच्छाचारिता को ही व्यक्त करते हैं —

"मानु पीय ! हौ गरब न कीन्हा। कन्त तोहार मरम मैं लीन्हा ॥

सेवा करै जो बरहो मासा । एतनिक अवगुन करै विनासा ॥

जौ तुम्ह देइ नाइ कै गीवा । छाड़हु नहीं बिनु मारे जीवा ॥

मैं जानेउँ तुम्ह मोही माहाँ । देखौ ताकि तौ हौ सब पाहाँ ॥

का रानी का चेरी कोई । जा कहँ गया करहु भल सोई ॥[1]

नागमती का यह कथन भारतीय नारी की पराधीनता और उसके पारिवारिक औकात को ही ध्वनित करता है पति की रातदिन सेवा करने पर भी एक छोटी सी भूल कितनी अनर्थकारी हो सकती है। इसे नागमती से अधिक कौन समझ सकता है। पुरूष हमेशा स्त्री के समर्पण का लाभ उठाया है। स्त्री द्वारा अपना समझे जाने और उसके साथ रहने पर भी पुरुष के अन्तस में अपनत्व का भाव कम ही मिलता है तभी तो नागमती कहती हैं कि मैं तो समझती थी तुम मेरे अन्दर हो अब तो हर जगह तुम्हीं दिखायी देते हो । राजा की दृष्टि में रानी औरनौकरानी में कोई विशेष अन्तर नहीं। दोनों उपयोग और उपभोग की वस्तु हैं जिस पर राजा की कृपा होगी उसी की भलाई सम्भव है। जायसी नागमती के माध्यम से मात्र रानी की नहीं अपितु एक पत्नी की समस्या और आशा आकांक्षा को प्रस्तुत करते हैं। पद्मावती के माध्यम से रचनाकार अलौकिक सत्ता का चित्रण करता ही है मगर नागमती का उपरोक्त कथन भी आध्यात्मिक संकेत से अछूता नहीं।

जायसी द्वारा स्त्री के सौन्दर्य का चित्रण या वियोग का वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण होने पर भी अपनी गम्भीरता को नहीं खोता। नागमती की चरित्र एवं व्यक्तित्व वियोगावस्था में प्रखरता प्राप्त करता है।रत्नसेन की उपस्थिति में नागमती के ऊपर सामंती समाज का दबाव स्पष्ट देखा जा सकता है। वियोगावस्था में उसका व्यक्तित्व समाज के आम स्त्रियों से ही नहीं जुड़ता अपितु प्रकृति से भी। पति के अभाव में पत्नी की उपेक्षा किस प्रकार समाज एवं परिवार द्वारा होती, है इसे भी नागमती के चरित्र से देखा जा सकता है, इस समय नागमती की समस्या वही है जो मध्यकानीन समाज के आम स्त्रियों की होती है।

राज घराने की स्त्री का सहयोग करने के लिए भी कोई पुरुष सामने नहीं आता तो मध्य एवं निम्न वर्ग के स्त्रियों की क्या दशा रही होगी?

नागमती का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य का अनमोल रत्न है। जहाँ पुरुष से उत्पीड़ित स्त्री को प्रकृति का आश्रय मिलता है। सारी रात नागमती उपवनों मे रोती फिरती है ऐसी दशा में वह प्रकृति के प्रत्येक सजीव पेड़, पशु, पक्षी से अपना दुखड़ा सुनाती है। इस सन्दर्भ में आलोचना सम्राट रामचन्द्र शुक्ल के कथन की प्रासंगिता आज भी अद्वितीय है- ''वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगने लगते हैं और यह जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुःख सुनाने से भी जी हल्का होगा।''[2] जिस नागमती के आज्ञापालन के लिए नौकर दासों के साथ सरदार भी रहते थे वहीं अब बार-बार रोती है कोई मनुष्य अब उसकी आवाज सुनने वाला नहीं है आधी रात में सिर्फ एक विहंगम बोलता है क्या मध्य कालीन समाज में स्त्री इतनी अकेली और उपेक्षित थी।

''फिर-फिर रौव कोई नहि डोला । आधी रात विहंगम बोला ॥

तू फिरि-फिरि दाहै सब पाँखी । केहि दुख नैनि न लावसि आँखी ॥[3]

प्रकृति का साहचर्य प्रेमदशा में ही सम्भव है। भारतीय साहित्य में अन्यत्र भी प्रकृति और पुरुष का वार्तालाप मिलता है यहाँ पर मनुष्य और पशु पक्षियों के हृदय में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति का संचार होता है। सूरदास जी की गोपियों में प्रकृति के प्रति सहानुभूति का अभाव है। गोपियों के हृदय एवं मधुवन में तादात्म्य भाव का अभाव है। ये मधुबन से व्यंग्यात्मक अंदाज में प्रश्न करती हैं -

''मधुबन! तुम कत रहत हरे?

विरह वियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?

कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?''[4]

मगर मधुबन गोपियों की बात को अनसुनी कर देता है कोई उत्तर नहीं देता 'मानस' मे भी राम के प्रश्न का उत्तर खग–मृग नहीं देते और न तो 'विक्रमोर्वशी' में पुरुरवा के प्रति हंस, कोकिल ही कोई सहानुभूति प्रकट करते हैं। परन्तु जायसी की नागमती की पीड़ा से एक पक्षी करुणार्द्र होताहै और इसका सन्देश भी रत्नसेन तक पहुँचता है। पद्मावती के नाम नागमती का जो सन्देश है उसमें दिव्य–प्रेम की परिपूर्णता और पतिव्रता की पीड़ा भी है। यहाँ पर दाम्पत्य प्रेम का न तो अभिमान है और न ही सुख भोग की लालसा। अत्यन्त उदार एवं मानवीय प्रेम का चित्रण यहाँ है–

"अबहु मया करु, करु जिऊ फेरा । मोहि जियाऊ कंत देइ मेरा ॥

मोहि भोग सौं काज न बारी । सौं दीठि के चाहन हारी ॥

सवति न होहि तू बैरिनिमोर कंत जेहिहाथि

आनि मिलाव एक बेर तोर पाँय मोर माथ ॥"[5]

दाम्पत्य–प्रेम का ऐसा निरीह चित्रण अत्यन्त दुर्लभ है। अन्तिम पंक्ति में मान एवं गर्व के परित्याग के साथ समर्पण का भाव भी मिलता है । भारतीय नारी के करुण चित्र पर न तो फारसी प्रभाव है और न ही आध्यात्मिक संकेत । नागमती का पूरा जीवन और पद्मावती की शादी के बाद का जीवन सामाजिक यथार्थ की जमीन पर चलता है। नारी की समस्या और कष्ट चाहे सामंती समाज का हो या आम जीवन का जायसी के रचना संसार से बाहर नहीं रह पाया । मध्यकालीन धार्मिक-सामाजिक एवं सत्ता के गलियारे में स्त्री की कितनी औकात थी? उसे नागमती के जीवन से समझा जा सकता है।

सामान्यत: प्रोषित-पतिका को यह भय बना रहा है कि उसका प्रिय परदेश में कहीं अनुरक्त न हो जाय। मगर नागमती जानती है कि उसका प्रिय सपत्नी पद्मावती के लिए गया

है।पति का प्रभाव और दबाव सदा पत्नी पर रहता है,वह भी अगर राजा हो तो दबाव की कल्पना की जा सकती है। ऐसे ही दबाओं के चलते नागमती का ईर्ष्याजन्य आक्रोश कहीं व्यक्त नहीं हो पाया । वह अन्दर ही अन्दर विरह की ज्वाला में झुलसती है और वियोग–वेदना से तड़पती है विरह की ज्वाला भी सामान्य अग्नि नहीं जिसे कोई भी बुझा दे। इसे तो लगाने वाला ही बुझा सकता है। प्रियतम की छाया ही ऐसी ज्वाला से शीतलता प्रदान कर सकती है । इसलिए वह प्रिय का मात्र दर्शन चाहती है।प्रिय के दर्शन में वह अद्भुत शक्ति है जो वियोग को क्षण भर में संयोग में और ज्वाला को पुष्पमाला में बदल सकता है।

प्रकृति के सजीव तत्वों से नारी हृदय का तादात्म्यस्थापित करने का अद्भुत कौशल जासयी में था। ऐसे दृश्य जब पद्मावती के सम्बन्ध में आते हैं तो उसमें पारलौकिक संकेत भी जुड़ जाता है। नागमती का ऐसे दृश्यों के साथ लौकिक सम्बन्ध ही अधिकांश बन पाता है गोपियों की विरह दशा में मधुबन हरे–भरे रहते हैं मगर नागमती की विरह दशा में उसके उपवन में उदासी छा जाती है। राज दरबार में षड्यन्त्र रचने से किसके पास अवकाश है जो नारी की पीड़ा को समझे साथ ही सहानुभूति भी रखे । ऐसा सहयोगी और उपकारी हृदय प्राकृतिक परिवेश में ही सम्भव है न कि सामंती समाज में —

"पलुही नागमती कै बारी । साने फूल फूलि फुलवारी॥

जावत पंखि रहे सब दहे । सबै पंखि बोले गहगहे ॥"[6]

पेड़–पौधों के सूखने पर पक्षियों को आवास की समस्या के साथ सूर्य के ताप की मार भी झेलनी पड़ती है । नागमती के वियोग की व्यापकता को जायसी ने पशु–पक्षियों एवं पेड़-पौधों तक पहुँचाया है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक में शकुन्तला की विदायी के

समय पौधे और मृग विशद स्नेह - भाव की व्यंजना करते हैं । जायसी ऐसे प्रकरणों को संस्कृत साहित्य की परम्परा से ग्रहण किया हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं। जायसी के यहाँ स्त्री के प्रेम ओर विरह का वर्णन रीतिकाल की तरह शौकिया वस्तु नहीं और न ही मन बहलाने की चीज। स्त्री के प्रेम वियोग एवं दर्द की अभि व्यक्ति में फारसी शैली पर हिन्दुस्तानी पद्धति सदा प्रभावी है यही कारण है कि अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन होने पर भी अरुचिकर और वीभत्स दृश्य नहीं आ पाये हैं। नागमती के वियोग और पद्मावती के सौन्दर्य वर्णन में अतिरंजना है मगर सहृदयता के साथ -

"दहि कोइलाभई कंत सनेहा । तोला माँसु रही नहीं देहा ॥

रकत न रहा विरह तन जरा । रती-रती होई नैनन्ह ढरा ॥"[7]

शरीर में तोला भर मांस न रहना और रक्त का आंखों के रास्ते बाहरआना अस्वाभाविक है। जायसी में वहक्षमता एवं प्रतिभा है कि अस्वाभाविक चित्र के माध्यम से विरहिणी का स्वाभाविक चित्र उपस्थित होता है। मध्यकालीन समाज के आम नारी के हृदय में बैठकर जायसी नागमती के दर्द एवं पीड़ा को स्वर प्रदान करते हैं । राजरानी के माध्यम से नौकरानी तक की समस्या का चित्रण जन मानस में पैठ रखने वाला कवि ही कर सकता है। स्त्री किसी भी समाज की हो उसके सौन्दर्य एवं समस्या का एक साथ चित्रण जायसी का अपना कौशल है।ऐसी प्रतिभा बिरले कवियों को प्राप्त होती हैं ऐसी विशेषताओं को ध्यान में रखकर आचार्य शुक्ल कहते हैं कि —"नागमती का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है।"[8] अद्वितीयता इस बात में है कि नागमती ही रानीपन नहीं भूलती बल्कि जायसी भी भूल जाते हैं कि वे किसी राजरानी का वियोग वर्णन कर रहे हैं या सामान्य,नारी का ।

नागमती वियोग वर्णन की शैली बारहमासा परम्परागत है मगर विषय वस्तु एवं भाव जनमानस के हैं। यही कारण है कि विरहिणी के कोमल एवं हृदयगत भावों की व्यंजना बड़े ही मार्मिक अंदाज में हुई है। स्त्री का सन्दर्भ जहाँ भी आता है जायसी मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दोनों दृष्टियों से चित्रांकन करते हैं वर्णन संयोगपक्ष का हो या वियोग का।

जायसी ने अपना अधिक ध्यान नारी के मन की वृत्तियों, उसके अवसाद और क्लेश को सामाजिक सन्दर्भों से जोड़कर प्रस्तुत करने में लगाया है वे नारी के मन के उद्वेग एवं तड़प को प्रत्यक्ष करने में दूर तक सफल हुए । संयोग व्यक्ति को आत्मोन्मुख बनाता है तो वियोग लोकोन्मुख । वियोग –वर्णन में नागमती के भावों का प्रसार जनमानस तक ही नहीं बल्कि पशु–पक्षियों तक भी होता है नागमती प्राकृतिक परिवेश में जाकर अपने आन्तरिक क्लेश का कथन करती हैं।इन सन्दर्भों में कहा जा सकता है कि मध्यकालीन समाज में नारी की उपेक्षा का अहसास जायसी को भी था। नागमती का वियोग वर्णन जायसी के लोकानुभाव का परिचायक है —

> ''चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा । साजा विरह दुँद दल बाजा ॥
>
> धूम, साम, धौरै घन धाए । सेत धजा बगपाँति देखाए ॥
>
> खड़क बीजु चमकै चहुँ ओरा । बूँदबान बरिसहिं चहुँ ओरा ॥''[9]

आधुनिक युग में जायसी के पदों का शास्त्रीय आधार पर विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं रह गयी है प्रिय वियोग से प्रताड़ित एवं अर्जित सामान्य नारी का जो चित्र जायसी प्रस्तुत करते हैं वहाँ उसकी विवशता ही प्रकट होती है। अवध का कृषि प्रधान समाज जायसी के मानस से निकल नहीं पाता है रानी के वियोग वर्णन में तो मखमली सेज, रत्नजड़ित अलंकार , संगमर्मर के महल आदि का उल्लेख आना चाहिए। मगर ऐसे दृश्यों

का सर्वत्र अभाव है। संयोग के समय जो प्राकृतिक परिवेश सुखदायी एवं मनभावन होता है, वियोग के समय वही कष्टकारी । कृषि प्रधान समाज में बरसात का मौसम पति के अभाव में पत्नी के सामने अनेक प्रकार की समस्या उतन्न करता है इन परिस्थितियों में सावन मनभावन नहीं होता। बिजली की चमक एवं वर्षा की बूंदें विरहिणी के हृदय पर सीधे चोट पहुँचा कर वियोग के जख्म को हरा कर देती हैं ।

सुखद प्राकृतिक परिवेश संयोग को जितना मादक बनाता है वियोग को उतना ही कष्टकारी। मौसम का बदलना हिन्दू गृहिणी के लिए ही नहीं अपितु ग्रामीण समाज से जुड़ी हुई स्त्री के लिए नये कार्य का आह्वान एवं नयी आवश्यकता की याद दिलाता है। कृषि प्रधान समाज में पुष्य-नक्षत्र आने पर छप्पर का छाना और कच्चे घरों की मरम्मत सामान्य बात थी जिससे जायसी अवश्य अवगत रहे होंगे-

''पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मंदिर कोछावा ॥

अद्रा लाग, लागिर भुइँ लेयी । मोहिं बिनु पिउ को आदर देई ॥''10

चौमासे में स्वामी के अभाव में घर की यही दशा होती है। जायसी अगर कृषि की सामाजिक समस्या का चित्रण करते हैं तो तुरन्त विरहिणी के हृदयगत भावों को भी स्पर्श करते हैं। सामाजिक एवं व्यक्तिगत भावों का मणिकांचन संयोग ही नागमती के दर्द को सर्वव्यापी बनाता है। नागमती की समस्या न तो सिर्फ व्यक्तिगत है और न ही मात्र राजरानी की । उसकी समस्या अगर हैं तो समाज द्वारा उपेक्षित और प्रताड़ित समस्त विरहिणी स्त्रियों की । पत्नी की आवश्यकता और समस्या को पूर्ण करने का दायित्व समाज द्वारा पति को सौंपा गया है। पुरुषों द्वारा इस दायित्व के निर्वाह में कितनी लापरवाही बरती गयी, इसका साक्षी आज का भी समाज है। जायसी मुसलमान होते हुए भी नागमती के माध्यम से

हिन्दू गृहिणी का आदर्श चित्र उपस्थित किये, जिसके द्वारा पतिव्रत धर्म की गरिमामय व्यंजना भी होती है। हिन्दू घरों से कहानियाँ लेने मध्यकालीन युग और परिवेश से सम्बद्ध होने के नाते पतिव्रत धर्म की प्रतिष्ठा एवं सती-प्रथा जैसी अमानवीय कुप्रथा में जायसी का मन रमा -

यह जग काह जो अछहि न आथी । हम तु नाह दुहूं जग साथी ॥

लेइ सर ऊपरखाट बिछाई । पौढ़ी दुवौं कंत गर लायी ॥

लागी कंठ आगि देइ होरी । छार भई जरि अंग न मोरी ॥[11]

हिन्दू धर्म की सामाजिक परम्परा में दाम्पत्य प्रेम में स्थायित्व लाने, उसे सगरिमामय बनाने के लिए, व्यवस्था के नियामकों ने सारे त्याग एवं बलिदान का ठेका स्त्रियों को दे दिया। सती-सावित्री, सीता एवं उर्मिला को प्रमाण एवं आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। शिव कुमार मिश्र के शब्दों में —"अपने को महा आधुनिक कहने वाले रचनाकार तक इस मानसिकता से मुक्त नहीं हैं । कामायनी की श्रद्धा, स्कंदगुप्त की देवसेना उदाहरण हैं और हमने जिसे महा आधुनिक कह कर संकेतित किया है वे अज्ञेय भी (देखिए 'नदी के द्वीप' के नारी पात्रों को), इस परंपरित मानसिकता से मुक्त नहीं हैं। ऐसी स्थिति में जायसी से विपरीत की आकांक्षा करना या नारी-पुरुष की पारस्परिक निष्ठा को रेखांकित करना अर्थात् पुरुष से भी वैसी ही अपेक्षा करने की बात को सामने लाना, अतिरिक्त आग्रह होगा।"[12]

नागमती के वियोग वर्णन और बारहमासे का अधिकांश आलोचक इस लिए प्रशंसा करते हैं क्योंकि उसमें अवध के ग्रामीण समाज का चित्र ऋतु के अनुसार बदलता है, साथ ही एक आदर्श हिन्दू गृहिणी की विरह वाणी है। इतना ही नहीं है, इसके साथ-साथ जो

असहाय एवं उपेक्षित ही नहीं बल्कि समाज द्वारा पीड़ित नारी का चित्र बार-बार उपस्थित करते हैं, वह भी गौर करने की चीज है-

"बंध नाहिं औ कंध न कोई । बात न आव कहौं का रोई।।

साँठि नाठि जग बात को पूछा । बिन जिउ फिरै मूँजतनुछूँछा॥

भई दुहेली टेक बिहूनी । थाँभ नाहि उठ सकै न थूनी ॥

बरसै मेह, चुवहिं नैनाहा । छपर-छपर होइ रहि बिनु नाहा ॥"13

कृषि-प्रधान समाज में पति के अभाव में पत्नी की कितनी उपेक्षा होती है और उसे किस प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उसे जायसी अच्छी तरह समझते है साथ ही प्रस्तुत भी करते हैं। इन समस्याओं के कारण का विश्लेषण भक्तिकाल का कोई कवि नहीं करता है। इसे भक्तिकाल की सीमा के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

'बंध नाहिं' से मायके द्वारा असहयोग और 'कंघ नाहिं' (अर्थात कंधा से कंधा मिलाकरचलने वाला पति) से पति एवं उसके परिवार से मिली उपेक्षा का बोध होता है। दोनों पक्ष पति के उपस्थिति और योग्यता के अनुसार पत्नी के साथ व्यवहार करते हैं। परिवार में पत्नी की क्षमता एवं कार्य का मूल्यांकन पति से जोड़कर किया जाता है। पति द्वारा उपेक्षित पत्नी को न परिवार सम्मान देता है और न ही समाज। जायसी का अनुभव संसार इन तथ्यों से अछूता नहीं। प्रकृति के मनोरम दृश्यों, चाहे वह बारिस का मौसम हो या कोई और उसके साथ नारी-हृदय के भावों को व्यक्त करने में जायसी समर्थ रचनाकार हैं। मौसम के साथ स्त्री के मीजाज में कैसा बदलाव आता है, उसे बारहमासे के करुण दृश्यों में देखा जा सकता है। पंडितों की दृष्टि में जिस नारी का कोई मोल नहीं था उसे अपने काव्य का प्रमुख पात्र बनाकर जायसी ने अनमोल सिद्ध कर दिया।

मध्यकालीन साहित्य में अगर प्रेमिकाओं को महत्त्व मिलता है तो समाज में एक से अधिक स्त्री रखने की होड़। ऐसे में जायसी पतिव्रत धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास करते हैं। रत्नसेन के साथ नागमती भी सिंहल द्वीप जाना चाहती है।ऐसे अवसर पर जायसी ने भारतीय समाज के पुरुष वादी विचार को रत्नसेन के माध्यम से व्यक्त किया है।

"तुम तिरिया मति हीन तुम्हारी।

मूरख सो जो मतै घरनारी ॥"14

इतनी तैयारी के साथ किसके लिए और क्यों जा रहा है रत्नसेन? एक स्त्री के लिए और उसे घरनारी बनाने के लिए पुरुष अपने अहम एवं स्वार्थ के चलते एक ओर नारी को तुच्छ एवं हेय मानता है तो दूसरी ओर उससे मिलने के लिए तड़पता भी है। यद्यपि कि नारी के वियोग वर्णन में जायसी प्राकृतिक परिदृश्य और अन्य वस्तुओं का परम्परागत प्रयोग ही करते हैं। मगर लोक जीवन का साक्षात अनुभव उसमें एक नयाभाव पैदा करता है। कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति इतनी प्रखर एवं मर्मस्पर्शी है कि नारी जीवन का कोई पक्ष छूटता नहीं । जायसी के विरहोद्गार नर-नारी ह्रदय को खोलकर रख देते हैं। कवि के स्त्री-पात्र संयोग के समय कम, वियोग में अधिक सामाजिक हैं। उनकी सामाजिकता औरसहानुभूति मनुष्य से ही नहीं अपितु प्राणी-मात्र से है।

"पिउ सौं कहेउ संदेसड़ा, हे भौरा! हे काग ॥

सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवां हम्हलाग ॥"15

स्त्री विरह की इतनी व्यापक अभिव्यंजना चुनिन्दे कवियों में ही मिलती है। रत्नसेन के जाने के बाद चित्तौड़ का कोई दूसरा राजा नहीं बना था। नागमती रानी थी ही। इन परिस्थितियों में राजा साहब को सन्देश भेजवाने के लिए भौंरे और कागा की क्या

आवश्यकता पड़ी? अनेक दूत राज दरबार में हमेशा उपस्थित रहते हैं। भारतीय समाज में स्त्रियों का छोटे पक्षियों एवं जीवों से रागात्मक सम्बन्ध रहा है। उनसे तादाम्त्य रखने वाले प्राणियों में तोता, मैना, कागा, कोयल के साथ भौंरा भी है। गोपियों के जीवन से जुड़ा 'भ्रमर-गीत -प्रसंग' के केन्द्र में तो भौंरा ही है। शकुन्तला का प्रेम प्रसंग भी तो भौंरे से ही प्रारम्भ होता है। मध्यकालीन समाज में स्त्री जीवन से जुड़े लोक-गीतों से लेकर आधुनिक युग के फिल्मी गीतों तक में इन पक्षियों की प्रभावशाली भूमिका को देखा जा सकता है। नारी जीवन की पराधीनता और पिंजड़े में कैद इन पक्षियों में बहुत कुछ समानता होती है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन नारी जीवन के मनोविज्ञान की सटीक अभिव्यक्ति करता है—"सम दुःखभोगियों में परस्पर सहानुभूति का उदय अत्यन्त स्वाभाविक है। संदेसड़ा शब्द में स्वार्थ ड़ा का प्रयोग भी बहुत उपयुक्त है ऐसा शब्द उस दशा में मुँह से निकलता है जब हृदय प्रेम , माधुर्य, अल्पता, तुच्छता, आदि में से कोई भाव लिए हुए होता है।"[16]

नारी हृदय के भावों को व्यक्त करने के लिए जायसी द्वारा किया गया सादृश्य विधान अत्यन्त स्वाभाविक है तन-मन की दशा को प्रस्तुत करने के लिए ऐसे उपमान दूर की सूझ एवं शास्त्र ज्ञान से नहीं प्राप्त किये जा सकते । जायसी का लोकानुभव ऐसे अनेक अवसरों पर प्रकट होता है इस सादृश्य विधान में प्रकृति अपने नाना रूपों में प्रकट होती है -

"मोर दुइ नैन चुवै जस ओरी"[17]

"आक जवास मई तस झूरी "[18]

"तन जस पियर पात भा मोरा "[19]

जायसी न सिर्फ नारी के हृदयगत भाव और सौन्दर्य का चित्रण करते हैं अपितु उसके व्यक्तित्व के कमजोर पहलू को भी उजागर करते हैं। वियोग के क्षण में नागमती सिर्फ

प्रिय का दर्शन चाहती है और पद्मावती के चरणों में अपना मस्तक रखना चाहती हैं । पत्नी बनने और चित्तौड़गढ़ आने से पूर्व पद्मावती में भी अनेक अलौकिक और उदार गुण भरे हैं। पद्मावती के चित्तौणगढ़ आते ही अनेक व्यवहारिक कठिनाइयां प्रारम्भ हो जाती हैं जो कि एक सामान्य परिवार में भी होती हैं। पद्मावती को अलग महल में उतारा जाता है दोनों पत्नियों में सामंजस्य बिठाने के लिए प्रेम एवं सत के अमर पुजारी को सफेद झूठ का सहारा लेना पड़ता है। दोनों से वह अलग-अलग कहता है असली तुम हो दूसरी वाली तो योंही हैं। पत्नियों के प्रति पुरुष का क्या दृष्टिकोण होता है। उसे रत्नसेन के माध्यम से जायसी अन्ततः प्रकट ही कर देते हैं। रत्नसेन और पद्मावती का सम्बन्ध न सिर्फ पति बल्कि साधक और साध्य का भी है। महान सर्जक द्वारा सामाजिक सच की उपेक्षा की आशा किसी भी परिस्थिति में नहीं की जानी चाहिए । स्त्रियों के सन्दर्भ में रत्नसेन का व्यक्तित्व विरोधाभासपूर्ण है एक ओर तो पद्मावती को पत्नी बनाने के लिए साधना करता है पूरे सामंती वैभव को त्याग कर। दूसरी ओर अपनी नागमती को आदेश देता है - तोते को लाओ या उसी के साथ सती हो जाओ। उसके इस आदेश में निर्ममता ही नहीं बल्कि निरंकुशता भी है। फिर भी एक नारी की महानता देखिए कि वह उसे परमेश्वर की तरह चाहती है और उसके साथ सती भी होती है।

अनेक आलोचक इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि सिंहलद्वीप आलोक है और पद्मावती अलौकिक गुणों से पूर्ण है। पद्मावती का प्रथम दर्शन मानसरोदक खण्ड में सखियों के साथ होता है। यहाँ पर उनका पारस रूप, उन्मुक्तता और उल्लास पाठक का मन मोह लेता है। यहीं पद्मावती जब इतिहास लोक चित्तौणगढ़ में आती है तो एक घरनारी की तरह घाघ शब्दावली में गाली ही नहीं बकती अपितु सौत से हाथापाई तक कर लेती है, सौन्दर्य और यौवन की वहाँभी कमी नहीं जिसे देखकर बड़े-बड़े पंडित मूर्छित हो जाते हैं।

जायसी के रचना संसार में नारी अलौकिक शक्ति और सौन्दर्य की देवी के रूप में तो है मगर उसका स्वरूप एकांगी नहीं है। सिंहल जैसे कल्पना लोक के राजकुमारी की सखियाँ समाज के हर ऊँच-नीच जाति से जुडी हैं, उसमें क्षत्रियों के छत्तीस कुलों की कन्याओं के साथ ब्राह्मण कन्या, अगरवारि, बैसिनी, चंदेलिनी, चौहान, सोनार, बनिया, कायस्थ, पटेर, बरई और पौनी परजा कुल की कन्याएँ हैं। इन जातियों का सम्बन्ध सिंहल द्वीप के स्वर्ग से नहीं बल्कि उत्तर भारतीय समाज से है। राजकुल से लेकर प्रजाकुल की इन कन्याओं में छुआछूत और ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है । एक साथ मिलकर खेलती ही नहीं अपितु त्यौहार भी मनाती है। आजादी के पचास वर्ष बाद भी हमारे समाज में ऐसी समानता दुर्लभ है।खेल तो विभिन्न जातियों की बालिकाएं एक साथ मिलकर खेल लेती हैं मगर त्योहार में ऐसा मेल-मिलाप अभी दुर्लभ है।

सिंहलगढ़ जो कि कल्पना का लोक है वहाँ विचरण करते समय भी जायसी नारी की पराधीनता और पीड़ा से अपने को मुक्त नहीं कर पाते हैं। मानसरोवर तट पर स्नान करने गयी पद्मावती खेलने लगती है।विवाहोपरांत बन्दी की तरह जीवन यापन करने वाली बालिकाएँ उल्लास के क्षण में भी भविष्य की चिन्ता से अपने को बचा नहीं पातीं हैं-

"ऐ रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी ॥

जौ लहि अहै पिता कर राजू । खेलि लेहि जौ खेलहु आजू ॥

पुनि सासुर हम गौनव काली । कित हम कित एह सरवर पाली ॥

कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलिकै खेलब एक साथा ॥

सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं । दारुन ससुर न आवै देही ।"20

नारी जीवन की वेदना व्यक्त करने वाले ऐसे पदों में आध्यात्मिक संकेत खोजना जायसी की सामाजिक सोच पर पर्दा डालने के समान है। नारी पराधीनता का ऐसा दृश्य मध्यकाल के किसी कवि के यहाँ मिलता है तो वे तुलसी हैं । स्त्रियों मे मीरा की वेदना सर्वोपरि हैं ।जायसी का कमाल यह है कि खेल-खेल में बड़े सहज ढंग से बहुत बड़ी बात कह जाते हैं । शास्त्रार्थ करने वाला और पुस्तकालयों में समय खपाने वाला कवि लोक सामान्य अनुभव की वस्तु नहीं पा सकता । नैहर और ससुराल सम्बन्धी ये उक्तियाँ हमारे लोक गीतों में ऐसे ही भावों और विचारों के साथ आती हैं । भाव ही नहीं बल्कि कथन की भंगिमा और शब्दों का चयन भी वहीं से अर्जित है जो स्त्री की वेदना को अत्यन्त मार्मिक ढंग से व्यंजित करता है। मीरा के काव्य से समझा जा सकता है कि भोगी हुयी पीड़ा की अभिव्यक्ति कितनी बेधक होती है।

"सास लड़े मेरी नन्द खिजावै, राणा रहया रिसाय।

पहरो भी राख्यो चौकी विठारयों, तालादियो जड़ाय ॥"21

समानता की बात करने वाले निर्गुण साधक भी वर्णव्यवस्था की अमानवीयता तो देखते हैं मगर नारी की पराधीनता और वेदना उनकी आँखें से ओझल रही। स्त्री-पुरुष को समान अधिकार मिलने के बाद भी कबीर के इस कथन में सामाजिकता कम ही नजरआती हैं।

"नैहरवा हमका नहिं भावै।

साई की नगरीया परम अति सुन्दर ॥"22

इन पदों में आध्यात्मिकता अपने चरम पर है मगर समाजशास्त्रीय तराजू पर इनका क्या मोल। मध्यकाल में सामंती समाज द्वारा अपने हित एवं सुविधा की सुरक्षा के लिए

पितृसत्तात्मक व्यवस्था को संरक्षण प्रदान किया गया । जिसमें नारी समाज को सिर्फ कर्तव्य सौपें गये, अधिकार और स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नहीं। अगर कुछ स्वतंत्रता थी तो वह शादी से पूर्व।

जायसी ग्रामीण समाज के चितेरे हैं लोक-जीवन से प्राप्त चितों एवं प्राकृतिक दृश्यों के माध्यम से नारी की वेदना को मूर्तिमान करते हैं। हमारे लोक-गीतों में आज भी सास, ससुर एवं ननद का उल्लेख नारी-शोषक के रूप में आता है। देवर नटखट रूप का मालिक है तो पति या प्रेमी सर्वाधिक आदर एवं सम्मान का पात्र है। पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के ये दृश्य जायसी की आँखों से किस प्रकार ओझल हो सकते थे पद्मावती की सखियों का यह कथन उनकी भविष्य के प्रति चिन्ता को प्रकट करता है।

"पिउ पिआरसिर ऊपर का पुनि करै दहुँ नाह।

कहुँ सुख राखै की दुख, दुहुँ कस जनम निवाह ॥"[23]

भविष्य के प्रति चिन्ता और भय का कारण आश्रित जीवन है। शिक्षा और स्वावलम्बन द्वारा ही नारी समाज से ऐसे विचारों का समूल नाश किया जा सकता है। नये और अनजान स्थान से चिन्ता स्वाभाविक है। वह अनजान व्यक्ति जिसकी पूजा परमेश्वर की तरह करती है। उसमें निरंकुशता क्यों आ जाती है? इस निरंकुशला का कारण हमारी समाज व्यवस्था द्वारा पति को दिये गये विशेषाधिकार है साथ ही स्त्रियों की अधिकारहीन स्थिति भी।विदायी की बेला पुरुषों के लिए भले कम कष्टदायी हो मगर नारी समाज में वह वेदना का सागर बहादेती है। शत्रुपक्ष के लोग भी ऐसे करुण दृश्य से अप्रभावित नहीं रह पाते हैं। अन्य स्त्रियों के अधिक दुःखी होने का एक कारण यह भी है कि वे जाकर हर समय मिल नहीं सकती। विदांई किसी राजकुमारी की हो या साधारण कन्या की दुःख तो

बराबर ही होगा। पद्मावती की विदाई के समय पूरा राज परिवार बेहाल हो उठा। पद्मावती कहती हैं प्रिय के चलाने पर जा रही हूँ। क्या करुँ हुक्म को टाल भी नहीं सकती । नैहर छूटना ही था तो पिता ने संरक्षण क्यों दिया, इससे तो अच्छा होता कि मैं मर गयी होती। उसकी सखियाँ रोने लगती हैँ। सखियों के दिल का हाल जायसी कुछ बयाँ करते हैं।

"धनि रोवत सब रोवहि सखी । हम तुम देखि आयु कहं झखी ॥

तुम्ह अैसी जहँ रहै न पाई । पुनि हम काह जो आहि पराई ॥

आदि पिता जो अहा हमारा । ओह नहिं यह दिन हिएँ विचारा ॥

छोह न कीन्ह निछौहें ओहूं । गा हम बेचि लागि एक गोहूं ॥

मकु गोहूँ कर हिय बेहराना। पै सो पिता नहिं हिएँ छोहाना ॥"24

विदाई के समय ग्रामीण समाज की स्त्रियाँ जब राग कढ़ा के रोती है तो कुछ ऐसे ही भावों को व्यक्त करती हैं। जन्म के समय कन्या का वध करना और बाल्यावस्था में उसे बेचना या किशोरा और युवावस्था में उसका हरण किया जाना – मध्यकालीन समाज का यह सब सच है। राज परिवार में तो बेची गयी कन्याओं या अपहरण की गयी बालिकाओं का अम्बार लगा रहता था।

पद्मावती की सखियाँ कहती हैं कि गेहूं के कारण उनके पिता ने बेचा था गेहूँ का हृदय तो इस घटना से विदीर्ण हो गया मगर उस पिता का हृदय द्रवित नहीं हुआ। पितृसत्तात्मक व्यवस्था और पिता के विशेषाधिकार पर यह सखियों का व्यंग्य है। यह व्यंग्य विदाई जैसे मौके पर भरे समाज के बीच किया जाता है। समाज की ऐसी ही विसंगतियों को कवितावली में तुलसी दास भी प्रस्तुत करते हैं —

"ऊँचे नीचे करम, धरम अधरम करि,

पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी ।"25

जायसी के नारी पात्रों में कर्तव्य-बोध के साथ ओजस्वी व्यक्तित्व भी मिलता है। इनके नारी पात्र पुरुष पात्रों पर ही नहीं कभी-कभी तो देवताओं से भी भारी पड़ते हैं पद्मावती रत्नसेन को लिखती हैं कि आकाश मार्ग से खुले-आम जान पर खेलकर मुझे लेने आओ। महेश का कहना है कि सुरंग को तलाश करके आगे बढ़ो । नारी होते हुए भी पद्मावती का चित्रण रत्नसेन के गुरु के रूप में किया गया है। कुछ क्षण तक ही पद्मावती का चरित्र और व्यक्तित्व तसब्बुफ की सीमा में रहता है अधिकांश जीवन घरनारी के रूप में व्यतीत करती है। देखने में तो रत्नसेन पूरी कथा में विचरण करता है मगर सर्वाधिक प्रभाव पद्मावती का ही है। पद्मावती उसे प्राप्त होती है जो सामंती वैभव त्यागकर योगी के रूप में समर्पित ही नहीं होता बल्कि मर कर प्राप्त करना चाहता है। शक्ति के बल पर मार कर प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले अलाउद्दीन के हाथ तो मुट्ठी भर धूल ही आती है।वह सिर्फ सौन्दर्य की देवी नहीं अपितु प्रबुद्ध राजमहिषी भी है। जो रूठ कर जाते हुए ब्राह्मण राघव चेतन को प्रसन्न करने का प्रयास करती है। रुठे सरदार गोरा , बादल को मनाने भी जाती है। पद्मावती और नागमती के जिन्दा रहने तक ही कथा में रोचकता है, ताजगी है, उनका सती होना नारी जीवन की करुण त्रासदी को ही व्यक्त करता है। इस घटना का मूल्यांकन विजयदेव नारायण साही कुछ यूँ करते हैं— "पद्मावती के जलने के साथ वैभव संपन्न एक पूरी आन्तरिक दुनिया जल जाती है। अलउद्दीन जिसे नहीं देखता, जायसी जिसे देख रहे थे।"26

जायसी प्रबन्धकार सर्जक हैं इस लिएनारी जीवन के विविध भाव एवं परिस्थिति से अवगत तो थे ही उसकी सफल अभिव्यक्ति भी किये । प्रसंग की मर्मस्पर्शिता बढ़ाने के

लिए वे यत्र-तत्र अपनी कल्पना शक्ति का सुन्दर समायोजन भी करते हैं । नारी जीवन में प्रेम को सर्वाधिक महत्त्व ही नहीं देते अपितु उसका सलीके के साथ चित्रांकन भी करते हैं। साथ-साथ जीवन की नाना दशाओं को भी लेकर। नारी जीवन का प्रधान रस शृंगार होता है मगर यथावसर दूसरे रस भी प्रवाहित हुए हैं । उनकी भाषा की ठेठमिठास ने इन रसों को और भी हृदय ग्राह्य बनाया। रणभूमि गमन से पूर्व बादल का गौना होकर आया है। नवागता के सम्पर्क से रहित है। बादल की माँ का वात्सल्य भी यशोदा से कम नहीं समझा जाना चाहिए -

"बादल केरि जसोवै माया । आइ गहेसि बादल कर पाया ॥

बादल राय मोर तुइ बारा । का जानसि कस होइ जुझारा ॥

बादशाह पुहुमी पति राजा । सनमुख होइ न हमीरहि छाजा ॥

जहाँ दलपति दलि मरहिं, तहा तोर का काज ?।

आजु गवन तोर आवै, बैठि मान सुख राज ॥"27

कवि ने माता के मनोविज्ञान का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है।माता की दृष्टि में बेटा ताउम्र बालक रहता है। वह कभी भी विपत्ति में उसको डालना नहीं चाहती है। माता बादल का पैर किसी श्रद्धा के कारण नहीं अपितु उसको द्रवित करने के लिए पकड़ती है। माँ जिसे जीवन देती है उसे भी आदेश नहीं दे पाती है और जिस पति को सब कुछ दे देती है उसके साथ दासी की तरह जीवन जीती है। यह है पितृसत्तात्मक समाज की अमानवीयता जिसे जायसी ने नजदीक से देखा था । शादी के समय वर और कन्या सात जनम तक साथ

देने का वादा और दावा करते हैं। पत्नी तो अगले जन्म में साथ देने के लिए सती तक हो जाती है। मगर पति इसी जन्म में साथदेने से अधिक दूसरे कार्यों को श्रेष्ठ समझने लगता है। बादल अपनी नवागत वधू से प्रथम सम्पर्क की अपेक्षा युद्ध को महत्त्व देता है। माता और पत्नी की उपेक्षा करके स्वामिनी की बात मानना एक सरदार के लिए तो उचित हो सकता है मगर बेटा और पति के लिए यह कितना उचित होगा? नवोढ़ा पत्नी के हृदयगत द्वन्द्व को जायसी ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसके कथन में कहीं भी अधिकार और अभिमान का भाव नहीं हैं-

"रहौं ल;जाइ त पिउ चले, गहौं त कह मोहि ढीठ।

ठाढ़ि तेवानि कि का करौं, दूभर बुऔ बइठ ॥"28

बादल की पत्नी जब उसकी ओर हँस करदेखती है तो वह उसकी ओर पीठ करदेता है। मन में गुस्सा होता है और जाते समय वह अपनी नवोढ़ा का मुख तक देखना पसंद नहीं करता है। एक पत्नी का इससे बढ़कर और क्या अपमान हो सकता है फिर भी पत्नी अनुनय-विनय करते हुए कुछ क्षण के लिए लज्जा का त्याग किया। फेटा फकड़ कर अनुनय-विनय के साथ ही बादल से कहती है आज गवनाआया है और आज ही आप युद्ध भूमि को गमन न करें। वह गवन ही किस प्रकार का जिसमें प्रिय का वियोग हो जाय। अन्त में नवोढ़ा पत्नी भी वहीं शरण लेती हैं – समाज द्वारा जहाँ उसका स्थान निर्धारित किया गया है-

"पायन्ह घरा लिलाट धनि, विनय सुनहु हो राय।

अलक परी फदंतार होइ, कैसेहु तजै न पाँय ॥"29

बादल अपनी माता एवं पत्नी के स्नेह एवं समर्पण को ठुकराकर रणभूमि को गमन करता है। युद्ध में उसे वीरगति भी प्राप्त होती है। इस प्रसंग के सन्दर्भ में शिवकुमार मिश्र का कहना है —"सारा प्रसंग भाव गर्भित है, भावुकता से पूर्ण है परन्तु कथा को देखते हुए, जायसी की सहृदयता से जुड़कर प्रभाव डालता है और कथा को व्यापक बनाता है।"[30]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जायसी नारी के मनोभावों को नारी की और मानवता की दृष्टि से देखते हैं, साथ ही उसकी आकांक्षा एवं समस्या को सामाजिक दृष्टि से दिखाते हैं।

अनुक्रमणिका

1. गोविन्द त्रिगुणायत – "जायसी का पद्मावत: शास्त्रीय भाष्य" पृ0 संख्या 116 एवं 117, संस्करण 1969, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, नयी दिल्ली।

2. रामचन्द्र शुक्ल –"त्रिवेणी" पृ0 संख्या 22, 38वाँ संस्करण सं02043 वि0 , प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

3. पृ0 संख्या 23 , 38वाँ संस्करण सं02043 वि0 , प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

4. पृ0 संख्या 22, 38वाँ संस्करण सं02043 वि0 , प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

5. गोविन्द त्रिगुणायत – "जायसी का पद्मावत: शास्त्रीय भाष्य" पृ0 संख्या 479, शेष वही।

6. आ0 शुक्ल – "त्रिवेणी" पृ0 संख्या 24, 38वाँ संस्करण सं02043 वि0 , प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

7. आ0 शुक्ल –"त्रिवेणी—, पृ0 सं0 25, 38वाँ संस्करण सं02043 वि0 , प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

8. आ0 शुक्ल –"त्रिवेणी" , पृ0 संख्या 22, 38वाँ संस्करण सं02043 वि0 , प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

9. गोविन्द त्रिगुणायत – "पद्मावत का शास्त्रीय भाष्य , पृ0 संख्या 455, शेष वही।

10. गोविन्द त्रिगुणायत – "जायसी का पद्मावत: शास्त्रीय भाष्य" पृ0 संख्या 455, शेष वही।

11. शिव कुमार मिश्र – "भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य" पृ0 संख्या 77, संस्करण 1996, अभिव्यक्ति प्रकाशन, विश्वविद्यालय मार्ग इलाहाबाद

12. शिव कुमार मिश्र– "भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य" पृ0 सं0 74, संस्करण 1996, अभिव्यक्ति प्रकाशन, विश्वविद्यालय मार्ग इलाहाबाद

13. आ0 शुक्ल, "त्रिवेणी" पृ0 सं0 27, शेष वही।

14. विजयदेव नारायण साही – "जायसी" पृ0 संख्या 107, संस्करण 1993, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

15. आ0 शुक्ल –"त्रिवेणी", पृ0 संख्या 27, शेष वही।

16. आ0 शुक्ल –"त्रिवेणी", पृ0 सं0 27, शेष वही।

17. आ0 शुक्ल –"त्रिवेणी", पृ0 सं0 28, शेष वही।

18. आ0 शुक्ल –"त्रिवेणी", पृ0 सं0 28, शेष वही।

19. आ0 शुक्ल –"त्रिवेणी", पृ0 सं0 28, शेष वही।

20. जायसी का पद्मावत: एक शास्त्रीय भाष्य , पृ0 संख्या 79, शेष वही।

21. परशुराम चतुर्वेदी – "मीराबाई की पदावली" पृ0 संख्या 112, संस्करण 1993, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

22. गोविन्द त्रिगुणायत –"जायसी का पद्मावत: एक शास्त्रीय भाष्य", शेष वही।

23. पृ0 संख्या 79, संस्करण 1993, शेष (22)

24. पृ0 संख्या 502, संस्करण 1993, शेष (22)

25. गो0 तुलसीदास – कवितावली पृ0 सं0 112 संस्करण 48वां गीताप्रेस,गोरखपुर

26. विजयदेव नारायण साही – "जायसी " पृ0 सं0 106, शेष वही

27. गोविन्द त्रिगुणायत – "जायसी का पद्मावत: शास्त्रीय भाष्य", पृ0 सं0 797, शेष वही।

28. पृ0 सं0 800, शेष (27)

29. गोविन्द त्रिगुणायत –"जायसी का पद्मावत: शासत्रीय भाष्य", पृ0सं0 801, शेष वही।

30. शिव कुमार मिश्र –"भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य", पृ0 सं0 76, शेष वही।

अध्याय - 7

कबीर की स्त्री-विषयक चेतना

कबीर काव्य में स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व दुर्लभ है। प्राय: स्त्री और माया को पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। प्रिय के प्रेम में ही स्त्री की सफलता और सार्थकता है। कबीर के स्त्री विषयक विचारों पर एक ओर नाथ साहित्य तो दूसरी ओर युग का प्रभाव है। मध्य कालीन भारतीय समाज में पति ही स्त्री का सब कुछ होता था यहाँ तक पति की मृत्यु के बाद स्त्री को जीने का भी अधिकार नहीं था। पति के अभाव में स्त्री की क्या दशा होती है, इसे कबीर ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है- "बालम आओ गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।"[1] भाव के द्वारा कबीर ने अगर स्त्री की आन्तरिक पीड़ा को पकड़ने का यहाँ पर प्रयास किया है तो शब्दार्थ के स्तर पर उसके शारीरिक पीड़ा को भी। उपयोग ही नहीं बल्कि उपभोग की समग्री के रूप में स्त्री को देखने वाला कबीर-युग उससे एकनिष्ठ और अनन्य प्रेम की आशा रखता था। स्त्री को लम्बे समय तक इन्तजार करने पर भी अगर पति मिल जाता है, तो वह अपने इन्तजार और अधिकार को इसके लिए उत्तरदायी नहीं मानती बल्कि भाग्य को सराहती है - "भाग बड़े घरि बैठे आये।'[2]

कबीर की दृष्टि में स्त्री के सम्मान योग्य होने के लिए पतिव्रता पहली शर्त है। यह परम्परागत हिन्दू धर्म के अनुकूल भी है। पतिव्रता स्त्री की मर्यादा और सम्मान की रक्षा का दायित्व कबीर ने पति के हाथों सौपा है। कबीर के ही शब्दों में —"पतिबरता नांगी रहै तो उस ही पुरिख कौ लाज"।[3]

कबीर भले ही स्त्री के अन्दर लाख कमियों को निकालने में कोई कसर नहीं छोड़ते हैं, फिर अपने सारे साधनात्मक एवं भावात्मक विचार स्त्री को माध्यम बना करके ही व्यक्त करते हैं। कबीर एक निष्ठ साधक और पतिव्रता में विशेष अन्तर नहीं देखते हैं-

"कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौ, बहु गुणियाले कंत।

जेहँसि बोलौं और सूँ, तौ नील रगाउँ दंत।"[4]

आ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि "कबीरदास भक्त और पतिव्रता दोनों को एक कोटि में रखते थे। दोनों का कर्म कठोर है। दोनों की वृत्ति कोमल है, दोनों के सामने प्रलोभन का दुस्तर जंजाल है, दोनों ही कांचन पद्धर्मी हैँ— बाहर से मृदु, भीतर से कठोर, बाहर से कोमल, भीतर से परुष। सबकी सेवा में व्यस्त, पर एकाकी आराधिका पतिव्रता ही भक्त के साथ तुलनीय हो सकती है।"[5]

सन्तान पारिवारिक सुख के प्रबल आधारों में से एक है। कबीर ने परिवार में सन्तति का उल्लेख करते हुए उस नारी को धन्य माना है। जिसने 'बैसनों पूत' को जन्म दिया है। [6] बालक के दुःख में स्वयं दुःख का अनुभव ही नहीं करना बल्कि उसके अवगुन को माफ करना भी मातृत्व का स्वाभाविक गुण है। कबीर दास जब कहते हैं कि "बालक दुखी दुखी महतारी", सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते"[7] से मात्र मध्यकालीन पारिवारिक परिवेश ही नहीं उभर कर आता है अपितु आधुनिक

परिवार की अवधारणा और मातृ-हृदय को भी अभिव्यक्ति मिलती है। कबीर को भी निश्चित रूप से इस बात का अनुभव और ज्ञान था कि बालक दुःखी होकर माँ के ही पास जाता है न कि पिता और चाचा के पास। सन्तान भक्त ईश्वर विषयक अनुराग से पूर्ण और ज्ञानी हो ऐसी आकांक्षा कबीर की है। यहाँ वे किसी प्रकार का समझौता नहीं चाहते, इससे सम्बन्धित उनके कथन सीधे और मर्मस्पर्शी हैं जो उनके तद्विषयक दृढ़ विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं; "जिस कुल में ज्ञान का विचार करने वाला पुत्र नहीं, उसकी माता गर्भ को ही नष्ट करके बंध्या क्यों न हो गयी? जो पुत्र सूअर की तरह कलियुग में भ्रमण करते हैं उनकी माता विधवा क्यों नहीं हो गयी।"[8] आधुनिक मनोवैज्ञानिक शोधों से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि व्यक्तित्व के विकास में परिवेश औरगुण सूत्र का बराबर योगदान होता है। फिर बालक में अवगुण आने और उसकी अयोग्यता के लिए सिर्फ माँ को ही कबीर द्वारा दोषी ठहराना मेरे समझ से अनुचित है। व्यक्ति या बालक में अयोग्यता के लिएपूरे परिवार एवं परिवेश को उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए न कि सिर्फ माँ को। कबीर के लिए जीवन का लक्ष्य 'रामभक्ति' और 'ज्ञान की प्राप्ति" है इसलिए वे माता से ऐसे पुत्र की आकांक्षा रखते हैं।

अन्य महापुरुषों की तरह कबीर के काव्य में भी परस्त्रीगमन की निन्दा मिलती है। परस्त्रीगमनको कबीर अनुचित और न छिपने वाला मानते हैं। इसे चाहे जितना भी छिपा के किया जाय प्रकट हो ही जाता है जैसे लहसुन का खाया जाना–

"पर नारी को राचणौ, जिसी ल्हसण की षॉनि।

पूणै वैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि ॥"[9]

परनारी तो प्रत्यक्ष छुरी के समान है, स्वर्ण निर्मित होने पर भी नाश ही का कारण

बनेगी। परनिंदा,परधन और परदारा के त्याग का आह्वान कबीर ने मध्य युग में किया था।[10]

जिसकी आवश्यकता आज के युग में उससे अधिक है क्योंकि परिश्रम की जगह निंदा और भ्रष्टाचार तथा अनेक लोगों से शारीरिक सम्बन्ध होने के कारण कई असाध्य रोगों को प्रसार के अवसर मिल रहे हैं। कबीर के स्त्री विषयक विचार चाहे जितने भी कर्ण कटु क्यों न हो उसमे वयक्तिक एवं सामाजिक सच्च की अनुभूति कूट-कूट कर भरी गयी है। इन विचारों की सार्थकता अध्ययन मात्र में नहीं बल्कि अमल में है। मध्य कालीन समाज में विवाहेत्तर सम्बन्ध विद्यमान थे, इसके इतिहास में भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। परन्तु कबीर स्त्री को अन्य पुरुष के साथ प्रेम की अनुमति नहीं प्रदान करते हैं। इसीलिए वे प्रेम की एकनिष्ठता पर बल देते हैं ऐसी सुन्दरी का प्रिय भी उसे कभी नहीं छोड़ता उसे अपने संग निरन्तर रखना चाहता है-

"जो सुन्दरि सांई भजै, तजै आन की आस।

ताहि न कबहूं परहरै, पलक न छाड़ै पास ॥" 11

स्मृति ग्रन्थों की तरह कबीर के साहित्य में भी नैतिकता की कसौटी पर स्त्री को ही ज्यादा कसने का प्रयास किया गया है। यह सत्य है कि जिस प्रकार ताली दोनों हाथ से बजती है उसी प्रकार "परस्त्रीगमन" जैसे व्यभिचार के लिए स्त्री ,पुरुष दोनों को दोषी माना जाना चाहिए। मध्यकालीन समाज ही नहीं बल्कि आधुनिक समाज भी पुरुष-प्रधान है इस लिए पुरुष का उत्तर-दायित्व ऐसे मामलों में कुछ अधिक बनता है।

नारी प्रत्येक समाज व्यवस्था का अभिन्न अंग रही है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में उसका एक निश्चित स्थान और कार्य होता है। कबीर ने नारी को बुद्धि-विवेक,स्वास्थ्य, सुख-शान्ति ही नहीं अपितु ज्ञान-भक्ति की भी हर्ता, अग्नि की ज्वाला, विष-फल, नरक का

कुण्ड, नागिन ,निर्लज्ज आदि कहा है। इतना ही नहीं अपितु उसके छाया से भी बचने का उपदेश देते हैं। नारी विषयक ऐसी उक्तियों की अधिकता के कारण विद्वानों की एक धारणा देखी जाती है। कि —"स्त्रीजाति को इन सन्तों द्वारा हानि पहुँचती है।"[12] परन्तु भक्ति के धरातल पर कबीर नर-नारी में कहीं भेद नहीं करते हैं। आप ने दोनों में एक ही तत्व की व्याप्ति मानी है। निंदा तो उन्होंने सिर्फ कामी नारी की किया है। ध्यान रखने की बात है कि कबीर के काव्य में लम्पट और कामी पुरुष कहीं भी सम्मान एवं आदर के हकदार नहीं हैं। अतः कबीर को सिर्फ नारी निंदक कहना उचित नहीं होगा आपके लिए नारी विषय दृष्टिकोण का निर्धारण सिर्फ कुछ उक्तियों के आधार पर नहीं अपितु पूरे रचना संसार एवं जीवन व्यापार के आधार पर लेना चाहिए। कबीर काव्य में नारी की मात्र निन्दा ही नहीं है बल्कि उसके जीवन के अन्य पहलू का भी उद्‌घाटन हुआ है। निम्न उक्ति को कथन के आलोक में प्रस्तुत किया जा सकता है।

"बलि जांउ ताकी जिनि तुम्ह पठई एक माइ एक बहना ।"[13]

पितृ गृह का बालिका जीवन न तो कबीर द्वारा निन्दित है और न ही किसी अन्य सन्त द्वारा। सामाजिक स्तर पर भले उसे अपमान एवं उपेक्षा का कभी-कभी सामना करना पड़ा। कुछ जातियों में तो बाल-हत्या तक का प्रचलन था। शासक वर्ग द्वारा अपहरण,कुमारावस्था में किसी की वासना का शिकार हो जाना, मीना बाजारों में उनका क्रय-विक्रय एवं वेश्यावृत्ति का प्रचलन उस काल की कुरीतियाँ थीं। परन्तु वेश्या वृत्ति और मीना बाजार का सम्बन्ध मात्र शहरी जीवन से था। इतना तो कहा ही जा सकता है कि ये कुप्रथाएं सर्वसामान्य नहीं थीं। पारिवार ही नहीं बल्कि सामाजिक स्तर पर भी सम्मान एवं स्नेह प्राप्त करने के लिए नववधू में चारित्रिक दृढ़ता तो होना ही चाहिए।

कबीर के अनुसार रूप-सौन्दर्य से नहीं अपितु पतिव्रत धर्म के पालन से नववधु पिया की प्यारी बन सकती है—

"जौ पैं पतिव्रता ह्वै नारी, कैसे ही रहौ सो पियहिं पियारी।"14

कबीर ने स्त्री को मात्र प्रेयसी और कनक कामिनी के रूप में ही नहीं देखा परन्तु उसे परिवार की अद्वितीय कड़ी के रूप में भी चित्रित किया है। आप ने इसका सम्बन्ध न सिर्फ पति और प्रेमी से जोड़ा अपितु परिवार के अन्य सदस्यों से भी। सम्मान सेवा एवं स्नेह से स्त्री परिवार के अन्य सदस्यों के हृदय में अपना स्थान निश्चित कर सकती है-

"पहली नारि सदा कुलवंती सासू सुसरा मानैं।

देवर जेठ सबनि की प्यारी पिय को मरम न जानैं॥"15

धार्मिक-संस्कार एवं नैतिक व्यवहार से युक्त जीवन अपना कर और ऐसे ही सन्तानों की माता बनकर वह सबका सम्मान प्राप्त कर सकती थी। भक्ति भाव में लीन एवं सतसंग में सहयोग देने वाली नारी की निन्दा सन्तों ने कभी नहीं किया। अगर इन कार्यों में नारी बाधक होती है तो वे निन्दा करने से नहीं चूकते हैं। निन्दा के बाद भी कबीर नारी को उचित स्थलों पर सन्देश देते हैं।

"कहतकबीर सुहाग सुन्दरी हरिभजि ह्वै हैं निस्तारा ॥"16

कबीर के साहित्य में नारी का कार्य क्षेत्र पारिवारिक जीवन तक सीमित था। माता के रूप में उसे पुत्र पर एवं सास के रूप में उसे पुत्रवधू पर कुछ अधिकार प्राप्त था जीवनयापन के लिए वह बाल्यावस्था में पिता पर युवावस्था में पति पर एवं वृद्धावस्था में पुत्र पर निर्भर रहती थी। 17 उपरोक्त बातों के निष्कर्ष में यह भी कहा जा सकता है कि

उसके पालन-पोषण का दायित्व अन्ततः पुरुष पर ही था। मध्यकालीन समाज में सती-प्रथा प्रचलित थी। नैतिक आचरण औरएकनिष्ठ प्रेम के समर्थक कबीर ने उसका विरोध न करके उसे प्रशंसा के योग्य माना है। मध्यकाल में पर्दा प्रथा को सम्मान एवं श्रेष्ठता का सूचक माना जाता था। कबीर इस आडम्बर युक्त कुप्रथा पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूकते हैं— "मुद्रा पहर्‍या जोग न होई, घूँघट काढया सती न होई।"[18] कबीर काव्य और मध्यकालीन समाज ही नहीं अपितु आधुनिक समाज में भी बिरहिन, बंध्या और विधवा होना नारी जीवन के लिए अभिशाप के समान है। कबीर उसी रूप में इसका चित्रण करते हैं।

कबीर काव्य में नारी का न सिर्फ माया एवं कनक कामिनी रूप में चित्रण है अपितु विरह में जलती स्त्री की पीड़ा को भी कहीं-कहीं अभिव्यक्ति मिली है। कबीर ने विरह के विविध पक्षों का मौलिक ढंग से उद्घाटन किया है।कबीर से पहले इस शाखा में कोई ऐसा प्रभावशाली सन्त नहीं हुआ जो प्रेम एवं विरह को व्यापक आयाम और अनुभूति की गहरायी दे पाया हो। वह किसी परवर्ती सन्त में देखने को उपलब्ध नहीं है। सन्तों के अनुसार परमात्मा एक मात्र पुरुष है शेष प्राणी उसकी पत्नियाँ हैं। कबीर उसी गुणातीत प्रियतम को भरतार कहते हैं । इनकी दृष्टि में भी संसार की समस्त जीवात्माएं उस परम प्रियतम की पत्नियाँ हैं। प्रियतम एक हो और मिलने वाली अनेक जीवात्माएं हो तो ऐसे में वियोग स्वाभाविक है। इस वियोग चित्रण में मध्यकालीन नारी की चिन्ता,असहाय अवस्था, भाग्य का भरोसा एवं आत्मविश्वास, की कमी मिलती है-

"एक ही रूप दीसै सब नारी, नां जानौं को पियहिं पियारी।

कहै कबीर जा मस्तकि भाग, नां जानूं काहु देइ सुहाग ॥"[19]

कबीर की वाणी में दास्य, संख्य और आत्मनिवेदन का अद्भुत सामंजस्य है एक ओर उसमें विरहिणी की मिलनोत्कण्ठा तथा विरह-व्यथा का मार्मिक वर्णन है तो दूसरी ओर आत्मनिवेदन में भी परम विरह की अभिव्यक्ति मिलती है।कबीर की विरहिणी को रूप दर्शन की अभिलाषा तीव्र और मार्मिक है-

"विरहिन ऊठै भी पड़े, दरस कारनि राम।

मूँवा पीछै देहुगे, सो दरसन किहिकाम॥"[20]

इन पंक्तियों में प्रिय की प्रतीक्षा का अपूर्व धैर्य विद्यमान है अभिलाषा कृशता और मरण जैसी दशाओं को भी विरहिणी झेलने के बाद सिर्फ "दरसन" चाहती है। प्रिय से कोई गिला-सिकवा की बात नहीं । कान्ता भाव का विरह ही कबीर के प्रेमा-भक्ति की रीढ़ है। कबीर की विरहिणी आत्मा एवं सामान्य विरहिणी के वियोग वर्णन में कोई विशेष अन्तर नहीं है।वियोग में भी वह प्रिय का गुणगान करती है और दर्शन की अभिलाषा रखती है पपीहे की भाँति प्रिय को पुकारने वाली विरहिणी विरह में तड़पती हुई नयनों को सावन-भादों बना डालती है फिर भी मिलन की उत्कण्ठा में कोई कमी नहीं मिलती है। ऐसी दशा में भी यदि प्रिय दर्शन नहीं देता तो प्राणों की रक्षा किस प्रकार संभव है। अतः उससे शीघ्र ही आने की अनुनय भरी याचना स्वाभाविक है—

"बाल्हा आव हमारे गेहरे

तुम बिन दुखिया देह रे।

सबको कहै तुम्हारी नारी, मोकौ इहै अदेहरे।

एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसे नेह रे ।

आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बनधरैन धीर रे।

है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सू कहै सुनाइरे।

ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव न जाइ रे।21

सांसारिक विरह का इससे उत्कृष्ट रूप रीति काल में भी सर्वत्र दुर्लभ है। विरह की अग्नि में विरहणी आत्मा सोने की तरह शुद्ध होकर निकलती है। इस अग्नि में समस्त कल्मश भाव जलकर भस्म हो जाते हैं। देह का दु:खी होना इन्तजार एवं वियोग के चरमोत्कर्ष पर ही सम्भव है मर्यादा का लिबादा ओढ़े समाज में जहाँ पर पर्दा-प्रथा सिर्फ स्त्रियों के लिए हो, पुरुष के लिए न तो पर्दा और न किसी प्रकार का अंकुश इस असह्य परिस्थिति में स्त्री को वियोग में रोने के सिवाय रास्ता ही क्या बचता है । "आन न भावै नींद न आवै" के माध्यम से कबीर साहब स्त्री की एकनिष्ठता और बेचैनी को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। मध्यकालीन साहित्य में पुरुष के लिए एकनिष्ठ प्रेम का प्रयोग कम स्थान पर मिलता है । समाज में अनेकों ऐसे बन्धन थे जिसके कारणवह अपनी बात जिससे कहना चाहती थी नहीं कह पाती थी। उसकी बात को यथेष्ट व्यक्ति तक पहुँचाने वाले भी कम ही मिलते थे। अगर कोई ऐसा साहस उठाता है तो इसमें उसको कोई लाभ या सम्मान नहीं मिलता था अपितु अपयश की सम्भावना आदि से अन्त तक बनी रहती थी।शायद इसी लिए कबीर ने ऐसे व्यक्ति को 'पर उपगारी' शब्द से सम्बोधित किया है।दीर्घ वियोग और दु:खी देह के बाद भी स्त्री की अन्तिम अभिलाषा एवं दृढ़ इच्छाशक्ति है कि'बिन देखे जीव न जाइरे'। ऐसा लगता है मानो कबीर की विरहिणी का शरीर हाड़ मांस का नहीं अपितु टीस और पीड़ा की मिश्रधातु है—

"तलफै बिन बालम मोर जिया।

दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया,

तलफ तलफ के भोर किया ।

तन मन मोर रहट अस डोलै

सुन सेज पर जनम छिया।

नैन थकित भये पंथ न सूँझै ।

साई बेदरदी सुध न लिआ।" 22

'तलफैं' शब्द विरहिणी हृदय की व्यथा को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है। उपरोक्त एक पद में ही विरहिणी के अनेक भावों को बड़े क्रमबद्ध एवं सामंजस्य पूर्ण ढंग से समायोजित करने का प्रयास किया गया है। प्रथम पंक्ति में विरह जन्य छटपटाहट एवं नींद न आने से उत्पन्न बेचैनी को ऐसे व्यक्त किया गया है मानो प्रथम प्रेम की अनुभूति हो। पूरी रात को तड़प-तड़प कर काटना या भोर करना वियोग एवं बेचैनी की पराकाष्ठा की ओर संकेत है। 'तन मन मोर रहँट अस डोलै' में अभाव, अतृप्ति और मिलनौत्कण्ठा के भावों की त्रिवेणी है ऐसी अनेक पंक्तियां कबीर की वाणी में मिलती है जहाँ पर मध्ययुगीन नारी का ही नहीं अपितु आधुनिक काल की नारी की पीड़ा एवं दर्द को भी आवाज मिलती है। "सुन सेज पर जनम छिया" मे मात्र प्रतीक्षाजन्य निराशा ही नहीं है अपितु प्रिय के मिलन के बाद नये जीवन की प्राप्ति की ओर संकेत भी है। इन्तजार की एक रात ही वियोगिनी के लिए जान लेवा होती है किन्तु जिस वियोगी को जीवन भर प्रतीक्षा के उत्तर में सिर्फ सूनी सेज ही मिली हो उसकी विरह वेदना का अनुमान सहज ही नहीं लगाया जा सकता है। असहनीय पीड़ा के बाद भी उसका हृदय फट नहीं गया - यह उसके अपूर्व धैर्य और सहिष्णुता का ही परिचायक है। शून्य-शैय्या का प्रयोग एक ओर विरहोद्दीपन में सहायक है

तो दूसरी ओर इन्तजार के बाद भी प्रिय की प्राप्ति न होने पर उत्पन्न होने वाली वेदना की अभिव्यक्ति में भी "साई बेदरदी सुध न लिआ" में एकनिष्ठ भाव से प्रतीक्षा के बाद मिलने वाले उपेक्षा भाव की अभिव्यक्ति हुई है। कबीर की भक्ति साधना में भी नारी के प्रेम वियोग एवं प्रताड़ना कोजीवात्मा के माध्यम से देखा जा सकता है। यहाँ पर नारी के प्रेयसी एवं पत्नी दोनों रूपों की समस्या का उद्घाटन ही नहीं मिलता अपितु उसके आकांक्षा एवं उल्लास का भी चित्रण है। मध्यकालीन ही नहीं बल्कि आधुनिक समाज में भी शादी और मिलन की अधिकांश शर्त वर या वर पक्ष द्वारा निर्धारित की जाती है। कुँवारी की आशा- आकांक्षा से न तो समाज कोई सरोकार रखना चाहता है। और न ही दुल्हा या प्रेमी-पुरुष। सुहागरात जहाँ स्त्री और पुरुष का प्रथम बार सांगोपांग मिलन होता है मध्य काल की स्त्री इससे पूर्व पुरुष का मुख तक नहीं देख पाती थी।स्वभावतः अनुमान लगाया जा सकता है कि इस मिलन में उसे कितनी कठिनायी और परेशानी का सामना करना होता होगा। मध्यकालीन इतिहास के अवलोकन पर अनेक ऐसे साक्ष्य उभर कर सामने आते हैं जहाँ शादी के बाद स्त्री-पुरुष के तन-मन का मिलन भी नहीं हो पाता था तब तक पुरुष को युद्ध के लिए जाना पड़ता था। इस दशा में भी वीरगति प्राप्त होने पर समाज द्वारा उसे न सिर्फ वैधव्यजीवन जीने को मजबूर किया जाता था। अपितु उसे सती होने को भी विवश किया जाता था। कबीर जैसा समाजदर्शी इससे अपरिचित कैसे हो सकता था—

"अपने पुरिष मुख कबहूँ न देख्यौ, सती होत समझी समझाई।

कहैं कबीर हूँ सर रचि मरिहूँ तिरौ कंत ले तूर बजाई ॥"[23]

नारी का शोषण मध्यकाल में धर्म के सहारे भी किया जाता था। जीते-जी भले सुख न प्राप्त कर सकी मगर स्त्री सती होने पर निश्चित भव सागर को पार कर जायेगी। एकनिष्ठ भाव से पुरुष की सेवा करती रहे तभी उसकी मुक्ति सम्भव है चाहे, पुरुष अनेक

पत्नियाँ भी रखे।

कबीर न सिर्फ स्त्री की पीड़ा देखते हैं अपितु सुहागरात जैसे मिलन के अनेक ललित एवं मोहक चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। सुहागरात से पूर्व प्रेमिका का प्रेमी से निकट का परिचय नहीं रहता है। फिर भी उसके प्रति उसके मन में एक लगाव एवं आकर्षण बनने लगता है। प्रिय के साथ-साथ उससे सम्बन्धित अन्य वस्तु भी प्रेमिका को आकर्षित करती है। आकर्षण एवं प्रेम के इसी आन्दोलन में वह अपनी सखी सहेली नगरी ही नहीं अपितु बाबुल को भी भूल जाती है। तन-मन में उदासी छा जाती है और नैहर में मन लगना मुश्किल हो जाता है—

"नैहर से जियरा फाट रे।

नैहर नगरी जिनके जिनके बिजड़ी उसका क्या घर बाट रे

तनिक जियरवा मोर न लागै तन मन बहुत उचाट रे।"24

"उसका क्या घर बाट रे" के माध्यम से न सिर्फ आत्मा के अस्थिरता की ओर संकेत किया गया है बल्कि किशोरावस्था में ही लड़की को पराया धन और पराये घर में जाने की जो चर्चा परिवार एवं समाज में होने लगती है उस पर प्रकाश डाला है। प्रेम एवं सौन्दर्य के प्रति आकर्षण तथा काम सुख की भयमुक्त लालसा होने पर भी विवाहिता गौना के दिनको टालना ही चाहती है गौना के बाद खेलने जैसे अनेक कार्यों की स्वतंत्रता छिन जाती है।यह कबीर की विरहणी का मानना है और समाज में ऐसा होता भी आया है-

"खेल ले नैहरवा दिन चारि।

पहिली पठौनी तीनजनआये, नौवा बाम्हन बारि।

बाबुल जी मैं पैयां तोरी लागौं अबकी गवना दे टारि ।

xx xx xx xx xx

धरि बहियाँ डोलिया बैठारिन, कोउ न लागे गोहार ।"25

'कोउ न लागै गोहार'' जैसे अनेक पद कबीर वाणी में मिल जाते हैं। जो नारी के असहाय अवस्था को ही अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। पुरुष-प्रधान मध्यकालीन समाज जहाँ युद्ध जोरू और जमीन के लिए ही हुआ फिर भी स्त्री "गोहार" सुनने वाले कम ही लोग मिलते थे सारी-की-सारी उपेक्षा और अत्याचार सहने के बाद भी स्त्री को प्रिय के घर जाने का आकर्षण बना ही रहता है। साजन के घर के विषय में मनोरम कल्पना प्रत्येक विवाहिता का स्वाभाविक गुण है-

"पिया ऊँची रे अँटरिया तोरी देखन चली

ऊँची अँटरिया जरद किनरिया, लगी नाम की डोरी।

चाँद सुरज सम दियना बरतु है, ता बिच भूली डगरिया।"26

सल्तनत काल में व्यापार के उत्थान के साथ ही नगरों का विकास प्रारम्भ हो जाता है, बड़ी-बडी अटारी और कोठी नगरों में ही देखने को मिलती है। व्यापारियों की कोठी किसान एवं मजदूरों के शोषण की केन्द्र होती थी। सामन्तों व राजाओं की कोठी में रनिवास बने होते थे जो कि स्त्री-शोषण के गढ़ थे। यहाँ पर पहुँचने के बाद सामान्य नारी एवं आम जनता की पुत्री का रास्ता भूल जाना स्वाभाविक था। विद्युत व्यवस्था के अभाव में यहाँ पर प्रकाश चाँद-सूर्य के समान ही रहता था उत्सव के समय तो कहना क्या? कबीर वाणी में अनेक ऐसे पद मिल जाते हैं जहाँ पर लड़की के

बाल्यावस्था के मोहक आकर्षक व उसकी स्वच्छंदता के चित्र हैं मगर ज्योंही पिया (पुरुष) की बात आती है उसकी बड़ी अटारी की बात आती है वह भय एवं आशंका से भर जाती है-

"निस दिन खेलत रही सखिन संग, मोहि बड़ा डर लागे।

मोरे साहब की ऊँची अँटरिया, चढ़त में जियरा काँपे ।

जो सुख चाहै तो त्यागे, पिया से हिलमिल लागे ।

घूँघट खोल अंग भर भेंटे, नैन आरती साजे ।"27

लड़की जब तक पिता के घर है तभी तक उसकी स्वतंत्रता है पति के घरजाते ही क्या जाने से पूर्व ही डरने लगती है, जियरा कापने लगता है। समझ में नहीं आता कि यह वैवाहिक सम्बन्ध समाज को गति प्रदान करने के लिए होता है कि स्त्री को गुलामी के बन्धन में बाँधने के लिए। यदि वहसुख चाहती है तो उसे अपना सब कुछ त्यागना पड़ता है- अहम् एवं मान मर्यादा ही नहीं बल्कि अपना अस्तित्व भी। अगर पति को प्रसन्न रखना है तो उसे आँखों को दीपक की तरह जला कर आरती उतारनी पड़ती है। संकोच और भय के कारण ही विवाहिता घूँघट हटाना नहीं चाहती है।आवरण या घूँघट हटने पर ही प्रिय की प्राप्ति सम्भव है इस लिए सखी उसे समझाती है।

"तोको पीव मिलेंगे घूँघट के पट खेल रे।"28

घूँघट हटाने में उसे कोई एतराज नहीं है परन्तु यह आशंका है कि प्रिय उसके साथ न जाने कैसा व्यवहार करेगा। प्रिय के व्यवहार का वह किस प्रकार उत्तर देगी- ऐसी अनुभव एवं ज्ञान से वह अनभिज्ञ है। यह अनभिज्ञता उसके प्रथम समागम की सूचक है।इतनी दुविधा और कठिनायी होने पर भी उसके मन में प्रिय मिलन की उत्कट

अभिलाषा के तीव्र प्रवाह में लज्जा, आशंका भय संकोच के सभी द्वन्द्वात्मक भाव वह जाते हैं और वह प्रिय का साक्षात्कार करने में सफल भी होती है। जिस असह्य एवं कठिन प्रक्रिया के द्वारा नारी पुरुष को आकर्षित करती थी उसका उल्लेख करनेमें कबीर दास नहीं चूकते हैं —

"नैनों कोकरि कोठरी पुतरी पलँग बिछाय ।

पलकों की चिक डारिकै, पिया को लिआ रिझाय ॥"29

इस प्रकार युगीन नारी की पीड़ा को कबीर कहीं जीवात्मा के माध्यम से व्यक्त करते हों तो कहीं ज्ञानी साधक के द्वारा। फिर भी कबीर उस युग की नारी विषयक अवधारणा और निर्गुण परम्परा से बाहर निकल कर नहीं विचार व्यक्त कर पाये हैं। जीवात्मा का प्रसंग जहाँ भी आता है वह नारी के समान ही शोषित, पीड़ित और दिग्भ्रमित अवस्था में है। वह इतनी कमजोर है कि पुरुष के सानिध्य के बिना अपने को असहाय एवं अपूर्ण पाती हैं किसी भी कीमत पर वह पुरुष को अपना बनाकर रखना चाहती है क्योंकि सौत एवं परस्त्रीगमन का भय एक पत्नी को सदा बना रहता है इस प्रकार का दुष्कर्म पुरुष की स्वाभाविक मनोवृत्ति के अनुकूल भी है—

"अब तोंहि जान न देहूँ राम पियारे,

ज्यूँ भावै त्यूँ होह हमारे।

बहुत दिनन के बिछुरे हरिपाये,

भाग बड़े घरि बैठे आये।

चरननि लागि करौ बरियाई

प्रेम प्रीति राखौ उरझाई ।''30

उपरोक्त पदों में कबीर ने नारी की परवशता को बड़े ही साफ शब्दों में व्यक्त किया है। नारी को घर मे बैठे ही प्रिय का इन्तजार करना पड़ता था उसे बाहर आने जाने की स्वतंत्रता नहीं थी काफी इन्तजार के बाद उसे प्रिय की प्राप्ति होती तो भी वह प्रिय को कोई दोष नहीं देती और न ही इसे वह अपने इन्तजार का फल मानती है अपितु इसे भाग्य का परिणाम मानती है। इन्तजार के बाद प्रिय का सानिध्य होने पर भी वह गले से नहीं लगाती अपितु खुद उसके चरणों में अपने को समर्पित कर देती है।

कबीर की प्रेयसी विविध भावों एवं अनुभावों से युक्त है। प्रिय के मधुर मिलन को अनुभव करते ही वह उद्विग्न हो जाती है। वह न केवल मानसिक संयोग से ही संतुष्ट होती अपितु तन-रति की ललित आकांक्षा भी रखती है। सामने पति को पाकर पत्नी किस प्रकार कामातुर हो जाती है इसका चित्रण भी बड़े ही भावपूर्ण ढंग से करते हैं —

''ए अखियाँ अलसानी पिया हो सेज चलो ।

खंभ पकरि पतंग अस डोलै बोलै मधुरी बानी।

फूलन सेज बिछाइ जो राख्यौ पिया बिना कुम्हलानी ।

धीरै पाँव धरौ पलंगा पर, जागत ननंद जिठानी।

कहत कबीर सुनौ भाई साधो, लोक लाज बिछलानी। ''31

जिस समाज में बहुपत्नी प्रथा के साथ पुरुष को सारी स्वच्छंदता मिली हो वहाँ उसे सिर्फ पत्नी से सम्बन्ध रखने की कोई बाध्यता नहीं रह जाती है। शालीनता लज्जा की प्रतिमूर्ति माने जाने वाली नारी को ही अपने पति से सेज पर चलने का अनुरोध करना

पड़ रहा है । कामातुर स्त्री के पैर एवं हृदय की गति क्या होती है? और उसकी वाणी में कैसी मधुरता का समावेश होता है? कबीर ने इसे बड़े ही मार्मिक ढंग से अभिवक्त किया है। पति के दर्शन मात्र से ही पत्नी के राग बोध अत्यन्त उद्दीप्त हो उठते हैं। और नशे में उसकी आँखें अलसा जाती हैं। पति इतने इन्तजार के बाद घर आता है कि सेज के सारे फूल कुम्हला जाते हैं। इतना होने पर भी पत्नी के उल्लास और उमंग में कोई कमी नहीं है। प्रेमातुर होने के कारण ही उसका शरीर अपने वश में नहीं है। फिर भी डोलने के लिए पति का सहारा नहीं मिलताहै उसे खम्भे का सहारा लेना पड़ता है। पति-पत्नी के सम्बन्ध को सामाजिक मान्यता एवं पारिवारिक स्वीकार्यता मिली रहती है फिर भी परिस्थितियाँ कभी-कभी ऐसी बनती हैं कि परिवार एवं समाज ही उनके मिलन में बाधक बन जाते हैं,'जागत ननद-जिठानी' से कुछ ऐसा ही बोध हो रहा है। इनसबके बाद भी उसे लोक-लाज का पूरा ध्यान है । प्रियतम को वह दबे पाँव सेज पर आने के लिए कहती है ताकि परिवार के अन्य जाग कर मिलन के अखण्ड आनंद में बाधा न उपस्थित करें।

कबीर ऐसी नारी के प्रशंसक थे जो सतीत्व की रक्षा के लिए जौहर करना जानती हो । आप ऐसी नारी को पूज्य मानते थे जो अपने पति के अतिरिक्त किसी और के विषय में न सोचे- उसी के साथ रमण करे और उसी का सुमिरन भी। इसमे ं कोई दो राय नहीं कि कबीर ने नारी को माया - ठगिनी - नागणी कहा है। आलोचकों ने भी कबीर को नारी निंदक सिद्ध करने का प्रयास किया है।कबीर नारी के मात्र उस रूप को निंदक मानते हैं जिसके कारण पुरुष माया-मोह में पड़कर नैतिकता, सदाचार और कर्तव्य को भूल जाता है। कामिनी कांचन का विरोध धर्म एवं आध्यात्म मार्ग में स्वाभाविक है। महात्मा बुद्ध जैसे महापुरुष भी स्त्रियों को संघ में प्रवेश पर प्रारम्भ में रोक लगाये थे।

कबीर ही नहीं बल्कि तत्कालीन सामाजिक दृष्टि में भी पतिव्रता, संस्कारी, कर्तव्य

परायण और संयमी नारी वंदनीय ही नहीं बल्कि प्रशंसनीय भी थी । विलासिनी, वेश्या और कुलटा की निन्दा प्रत्येक काल में होती चली आयी है। कबीर ही नहीं बल्कि अन्य सन्त भी नारी के माता एवं पुत्री के रूप के निंदक नहीं रहे परन्तु वे स्त्री के भोग्या एवं कामिनी रूप की सदा निन्दा किये।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. रामचन्द्र तिवारी –''कबीर मीमांसा'' पृ0 सं0 82, संस्करण 1995, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

2. रामचन्द्र तिवारी –''कबीर मीमांसा'' पृ0 सं0 106 , संस्करण 1995, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

3. श्याम सुन्दरदास –''कबीर ग्रन्थावली'', पृ0 सं0 15, संस्करण – सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

4. रामचन्द्र तिवारी –''कबीर मीमांसा'' पृ0 सं0 100, संस्करण 1995, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

5. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 161, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

6. पारसनाथ तिवारी – ''कबीर ग्रन्थावली'' पृ0 सं0 158, संस्करण 1961, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

7. डा0 श्यामसुन्दर दास–''कबीर ग्रन्थावली'' पृ0 सं0 94, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

8. डा0 श्यामसुन्दर दास–''कबीर ग्रन्थावली'' पृ0 सं0 97, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

9. डा0 श्यामसुन्दर दास–''कबीर ग्रन्थावली'' पृ0 सं0 31, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

10. डा0 श्यामसुन्दर दास–"कबीर ग्रन्थावली" पृ0 सं0 31,32 , संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

11. माता प्रसाद गुप्त –"कबीर ग्रन्थावली" पृ0 सं0 103 संस्करण 1992 साहित्य भवन प्रा0 लि0 जीरो रोड, इलाहाबाद

12. डा0 बड़थ्वाल– "हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय" पृ0 सं0 305 संस्करण 2000 वि0 , अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ

13. डा0 श्यामसुन्दर दास–"कबीर ग्रन्थावली" पृ0 सं0 134, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

14. डा0 श्यामसुन्दर दास–"कबीर ग्रन्थावली" पृ0 सं0 100, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

15. डा0 श्यामसुन्दर दास–"कबीर ग्रन्थावली" पृ0 सं0 123, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

16. डा0 श्यामसुन्दर दास–"कबीर ग्रन्थावली" पृ0 सं0 93, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

17. डा0 श्यामसुन्दर दास–"कबीर ग्रन्थावली" पृ0 सं0 74, 75, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

18. डा0 श्यामसुन्दर दास–"कबीर ग्रन्थावली" पृ0 सं0 80, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

19. डा0 माताप्रसाद गुप्त–"कबीर ग्रन्थावली" पृ0 सं0 269, संस्करण 1992, साहित्य भवन प्रा0 लि0 जीरोरोड इलाहाबाद

20. डा0 श्यामसुन्दर दास–''कबीर ग्रन्थावली'' पृ0 सं0 6, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

21. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 199, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

22. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 120, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

23. डा0 श्यामसुन्दर दास–''कबीर ग्रन्थावली'' पृ0 सं0 123, संस्करण सं0 2032 वि0, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

24. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 216, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

25. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 264, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

26. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 266, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

27. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 185, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

28. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 265, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

29. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 251, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

30. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –''कबीर'' पृ0 सं0 252, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

32. डा0 चौथी राम यादव, ''मध्यकालीन काव्य में विरहानुभूति की अभिव्यंजना'' पृ0 सं0 112, प्रथम संस्करण 1974, रचना प्रकाशन, खुल्दाबाद, इलाहाबाद।

अध्याय - ४

मीरा का व्यक्तित्व और विद्रोह

मध्यकालीन समाज में आत्मकथा और जीवनी लेखन जैसा न तो आधुनिक साहित्यिक विधाएं थी और न ही शासकों के अलावा किसी अन्य के प्रति इतिहास लेखन में रुचि । मध्यकाल के सन्त एवं भक्त कवियों के व्यक्तित्व और प्रतिभा को जानने के लिए भक्तमाल और वार्ता ग्रन्थ ही प्रमुख साधन के रूप में सामने आते हैं। इस काल के सन्तों एवं साधकों के प्रमाणिक जीवनवृत्त की अनुपलब्धता तो है मगर उनकी रचनाओं से गुजरते हुए बार-बार व्यक्तित्व उभर कर आ ही जाता है। स्वानुभूति और व्यक्तिगत जीवन रचना में अनायास अभिव्यक्ति पाता हैं। भक्तिकाल का तो पूरा साहित्य ही स्वानुभूति की स्वच्छंद अभिव्यक्ति है।

मीरा का साहित्य मात्रा में अल्प होते हुए भी गुणवत्ता में अधिक है इसी लिए जीवन के विविध आयाम प्रकट होते हैं। मीरा से अधिक अगर किसी ने अपने व्यक्तित्व के विषय में मध्यकाल में लिखा तो गोस्वामी जी। मीराबाई के पदावली में लोकलाज और कुल की मर्यादा तोड़ने की बात सबसे अधिक बार आती है। इसके पीछे ठोस सामाजिक कारण थे। मीरा का तो एकमात्र लक्ष्य था इष्ट के प्रति समर्पण, इसमें भी अनेक विघ्न बाधा। मीरा और तुलसी के साहित्य से गुजरने पर दुर्जन और खल व्यक्तियों से बार-बार सामना होता है। अपने युग के खल का नामोल्लेख करते हुए सम्बोधनपरक कविता लिखने का मध्यकाल में किसी ने साहस किया तो वह मीरा थीं।

"राणा जी क्याँने राखो म्हाँसूँ बैर।

थे तो राणा जी म्हाँने इसड़ा लागो ज्यो ब्रच्छन में कैर।

महल अटारी हम सब त्यागे त्याग्यो थारो बसनो सहर।

कागज टीकी राणा हम सब त्याग्या भगवी चादर पहर ।"[1]

मीरा एक तो मध्यकालीन सामंती समाज की नारी थीं और उसमें विधवा इसलिए उनको और अधिक विरोध एवं संघर्ष का सामना करना पड़ा। मीरा की कविता में विष को पीकर अमृत की तरह पचाने की बात अनेक बार आयी है । प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह घटना सत्य है या असत्य। मगर इससे इतना तो संकेतार्थ प्रकट ही होता है कि मध्यकालीन समाज में नारी पराधीन थी। मीरा के व्यक्तित्व का विद्रोही रूप स्वाधीनता के लिए अन्त तक संघर्ष किया । मीरा का संघर्ष परलोक के लिए नहीं इहलोक के लिए वास्तविक था।

मध्यकालीन समाज में अवर्ण-सवर्ण से समानता के लिए विद्रोह करता है तो स्त्री पुरुष से समानता के लिए छद्म कुल मर्यादा से टकराती है। मीरा ऐसी बाधा का बारम्बार उल्लेख करने में संकोच नहीं करती हैं। तुलसी के साहित्य में कुछ इसी प्रकार शारीरिक भूख एवं महामारी का चित्रण मिलता है। मीरा न सिर्फ कुप्रथाओं पर प्रहार करती हैं अपितु अपने व्यक्तित्व पर लगाये गये आरोपों का भी उल्लेख अदबदा कर कर ही देती हैं।

"लोकलाज कुल काणि जगत की दइ बहाय जस पाणी।

अपने घर पर परदा करले, मैं अबला बौराणी।

तरकस तीन लग्यों मेरे हियरे, गरक गयो सनकाणी।"[2]

सामंती समाज आज के लोकतान्त्रिक युग की तरह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं प्रदान करता था। राजघराने की स्त्रियों पर दासों से कम प्रतिबन्ध नहीं लगे होते थे। ऐसे परिवेश में मीरा न सिर्फ अपने राजघराने की मर्यादा को तोड़ती है। अपितु पूरे मध्यकालीन समाज के वाह्याचार एवं रुढ़िग्रस्त परम्परा को पानी की तरह बहा देती हैं। समाज व्यवस्था के नियामकों के पास जो तरकस है उसमें रखे व्यंग्य वाणों से अबला तक नहीं बच पाती है सामान्य मनुष्य की तो बात ही अलग है।

मीरा ने अगर सर्वाधिक बार किसी बात को स्वीकार किया है तो वह लोक-लाज तोड़ने की। संसार के लोग निंदा करते हैं और कहते हैं कि मीरा बौराय गयी हैं। तरह-तरह के आक्षेप समाज द्वारा मीरा पर लगाये गये मगर उसने इनका सामना अबला और विधवा की तरह नहीं अपितु एक सशक्त एवं संघर्षशील महिला की तरह किया। नारी-शोषण के विरूद्ध मीरा के संघर्ष को न सिर्फ सामाजिक अपितु पारिवारिक स्तर पर भी देखा जाना चाहिए। मीरा के अनेक ऐसे कथन हैं जो न सिर्फ मध्यकालीन नारी की समस्या को उजागर करते हैं बल्कि आधुनिक मध्यवर्गीय समाज की दूल्हन की पीड़ा को व्यक्त करते हैं -

"सास लड़े मेरी ननद खिजावै राणा रहया रिसाय।

पहरो भी राख्यो चौकी बिठार्यो तालोदियो जड़ाय।"[3]

मध्यकालीन समाज में सन्तों एवं सूफियों को अनेक बार राजदरबार से सम्मान एवं बुलावा मिला। इनके नाम पर नगर भी बसाने का उल्लेख मिलता है। मगर किसी महिला सन्त को सम्मान एवं बुलावा मिला हो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत महिला सन्तों को शासक वर्ग से ही नहीं अपितु समाज के सामान्य लोगों द्वारा भी उपेक्षा एवं उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा—

"कड़वा बोल लोक जग बोल्या करस्याँ म्हारी हांसी।"[4]

विधवा और बहू पर परिवार के लोग पहरा लगायें तो इसे भी ठीक तो नहीं ही कहा जा सकता मगर जिनसे कोई रिश्ता नहीं समाज के आम लोगों को कड़वा बोलने का क्या अधिकार औरऔचित्य है? मीरा ने मध्यकालीन सामान्य नारी की विवशता को देखा ही नहीं अपितु भोगा भी था इस लिए उनके स्त्री विषयक कथन को अन्य सन्तों और भक्तों की तरह नहीं लेना चाहिए। उनमें भोगे हुए सच की सोंधी गन्ध है। यह गन्ध धर्म एवं शासन के ठेकेदारों को असहृय भी हो सकती है।

मीरा के व्यक्तित्व की वह कौन सी विशेषता थी जो समाज को स्वीकार्य नहीं था। ऐसा कौन कार्य था जिससे कुल मर्यादा नष्ट होती थी? कुल मर्यादा को तोड़ने के लिए विधवा अबला ने कितना साहस किया होगा यह सहज अनुमान से परे है। मध्यकालीन नारियों में मीरा का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उनके साथ असामान्य कहानियाँ और किंवदंतियाँ जुड़ गयी। पति की मृत्यु के बाद मीरा का गृहस्थ जीवन बिखर गया। यह सत्य है कि घर की चारदीवारी में रहकर वह सामान्य विधवा जीवन नहीं चाहती थीं। उनकी आकांक्षा थी गिरधरनागर को प्राप्त करना और साधन साधुसंगति। मीरा के साध्य और साधन दोनों सामंती व्यवस्था के पोषकों को स्वीकार्य नहीं थे। अगर राणा कुल की बहू सामान्य भक्तिन की तरह आम लोगों से सतसंगति रखती है तो कैसे कुल मर्यादा राणा की रह सकती है।

विधवा होने के बाद मध्यकालीन समाज में स्त्री असहाय हो जाती थी सारी दुनिया में उसका कोई नहीं होता था क्योंकि पति का रिश्ता जन्मजन्मान्तर का स्वीकार किया जा चुका था। मीरा का भी गिरधर गोपाल के अलावा कोई दूसरा नहीं रह गया था। मीरा ने अपने साध्य को प्राप्त करने के लिए भाई बन्धु के साथ सभी सम्बन्धों को छोड़ा था। उनके

दिल की दर्द को समझना आसान नहीं जहाँ वे भक्तों को देखकर प्रसन्न होती थीं वहीं जग कोदेखकर रोती थीं। वे जब आँसुओं से प्रेमबेल बोने की बात को स्वीकार करतीं तो वहाँ अलौकिक एवं लौकिकप्रेम दोनों की पीड़ा सम्पृक्त होकर अभिव्यक्ति प्राप्त करती है । राणा द्वारा भेजे गये विष के प्याले को पीकरके मीरा ने पूरे समाज–व्यवस्था को चुनौती देते हुए जैसे कहा कि अब जो होना है जो–

"भापा छाँड्यां बन्धा छाँड्याँ छाँड्याँ संगाँ सूयाँ।

साधाँ दिग बैठ बैठ, लोक लाज खूयाँ।

भगत देख्याँ राजी ह्ययां, जगत देख्याँ रूयाँ।

अँसुवाँ जल सींच सींच प्रेम बेल बूयाँ।

xx xx xx xx

राणा विषरो प्यालो भेज्याँ पीय मगढ़ हूयाँ।

मीरा री लगण लग्याँ होणा हो जो हूयाँ।"[5]

ऐसी अनेकों कविताओं का सृजन मीरा ने किया है जहाँ उनका वाह्यान्तर व्यक्तित्व मुखरित होता है। सामाजिक मान्यताओं और परम्पराओं से विद्रोह मीरा के व्यक्तित्व की मूलभूत विशेषता है। विधवा के साथ सगे सम्बन्धियों का व्यवहार सर्वविदित है। भाई बन्धु और राणा द्वारा उपेक्षा मिलने पर ही मीरा उन्हें छोड़ा होगा। इस असंगत जगत में कुपात्रों की संख्या अधिक देखकर ही मीरा को रोना आया होगा। मीरा एक नारी भी थी इस लिए समाज में जाने पर उनके पारिवारिक एवं दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी जख्म हरे हो जाते रहे होंगे। इस कारण साधुसंगति अधिक सार्थक और रूचिकर लगी। स्त्री के मन मन्दिर में

आजीवन कोई न कोई पुरूष प्रतिष्ठित रहता है पति की मृत्यु के बाद पुत्र या कोई सगा, प्रिय व्यक्ति उसका स्थान ग्रहण करता है। पति की मृत्यु के बाद मीरा को ऐसा कोई योग्य व्यक्ति लगा नहीं, भक्ति के बीज तो बाल्यावस्था से ही उनमें पड़ चुके थे।

मीरा ही नहीं बल्कि अन्य सन्त भी पोथी पढ़ने से अधिक साधुसंगति पर बल देते हैं। आधुनिक समाजशास्त्री भी ज्ञान-विज्ञान एवं बौद्धिक विकास के लिए सम्मेलन एवं संगोष्ठियों की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। सन्तों ने भी इस आवश्यकता को स्वीकार किया है। सन्तों ने इस आवश्यकता को पांच सौ वर्ष पहले ही समझ लिया था। ऐसे सम्मेलनों में मध्यकाल क्या आधुनिक काल में भी स्त्रियों की संख्या नगण्य है। मीरा के लिए साधुसंगति दुःख बाटने एवं सुख प्राप्त करने का एक साधन था तो समाज के निगाह में लोक लाज खोने का एक अवसर।

वर्णव्यवस्था, स्त्रीपराधीनता और आर्थिक असमानता किस प्रकार परस्पर सम्बद्ध है यह आधुनिक चिन्तन काभी विषय हो सकता है। ऐसे विचारों की सहज अनुभूति पुस्तकीय ज्ञान और गोष्ठियों से नहीं हो सकती। इसके लिए समाज व्यवस्था को करीब से नंगी आँखों से देखना होगा। इस बात को मीरा से सम्बन्धित लोकगीत रचयिताओं ने समझ लिया था ये लोग समाज को शास्त्र से नहीं समझे उसे आँखों से देखा था। एक लोक गीत में ऊदा अपनी भाभी मीरा को दुनियादारीसमझाते हुए कहा –

''ऊँचा नीचा वेचणा ये भाभी उत्तम तिहारी जात।

राणा सो वर पाइयो हे भभी नौ कूंटा में थारो राज।

खीर खांण को भोजन जीमो भाभी ओढ़ो दिखणी चीर।

राणा सो बर पाइयो ये भाभी, सब महिलायं थांरो सीर।

बास्या कूस्या टूकड़ा ये भाभी और मिलेगी खाटी छाय।

रो रो भूखा मरो ये भाभी, नहीं मिलेगो हरि आय ।''6

उपरोक्त लोकगीत के आधार पर यह बात आसानी से स्वीकार की जानी चाहिए कि स्त्री-शोषण में मध्यकाल से ही स्त्री का हाथ भी रहा है। ननद-भौजाई, सासु-पतोहू का कलह भारतीय संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषता रही है। इनके सम्बन्धों में मात्र कलह ही नहीं प्रेम भी होता है मगर अधिकांश कलह ही पाया जाता है। मीरा के सन्दर्भ में जो लोक साहित्य प्राप्त होता है वह अन्तःसाक्ष्य एवं समाज शास्त्रीय विश्लेषण पर भी खरा उतरता है। निम्न लिखित पद की रेखांकित पंक्ति और उपरोक्त लोक गीत का तुलनात्मक आधार पर भाव विश्लेषण होना चाहिए।

''आज अनारी ले गयो सारी, कदम की डारी।

म्हारे गेल पड़्यो गिरधारी

म्हेजल जमुना भरन गयी थी आ गये कृष्ण मुरारी।

ले गयो सारी अनारी महारी, जल में ऊभी उघारी।

सखी साइनि म्हारी हँसत हैं, हँसि हँसि दे मोहि गारी।

सास बुरी अर नणद हठीली, लरि लरि मोहिं तारी।''7

मीरा के पद का विषय चाहे जो रहा हो फिर भी उसमें कहीं-न-कहीं नारी की समस्या और पीड़ा प्रकट हो ही जाती है। उपरोक्त पद का विषय गिरिधर के जीवन से जुड़ी घटना चीर हरण है। सासू का बुरा होना और ननद का हठीली होना पूरे पद में पैबन्द की तरह लगता है। इसी प्रकार कबीर के पदों का विषय चाहे जो रहा हो मगर उसमें वर्ण

जाति की असमानता बारम्बार प्रकट होती है। कबीर दास नैतिक, आध्यात्मिक एवं रहस्यमयी बात करते समय भी जाति और वर्ण के प्रकोप से मुक्त नहीं हो पाते हैं-

"छवि करै छत्रिया धर्मा, वाके बढै सवाई कर्मा।

छत्रीसो जो कुटुम से जूझे पांचो मेटि एक कै बूझै।

जीव मारि जीवहि प्रतिपालै देखत जन्म आपनो धालै।"[8]

रचना कार की व्यक्तिगत और प्रमुख समस्या समय एवं विषयवस्तु की परवाह किये बगैर अभिव्यक्त होती रहती है। तुलसी-साहित्य में शारीरिक भूख और दरिद्रता बार-बार प्रकट होती है ऐसे ही भावों एवं विचारों को स्वीकार करते हुए आधुनिक आलोचक और कवि मुक्तिबोध का कहना है - "प्रत्येक साहित्य मूलतः और सारतः आत्मचरित्रात्मक है, भले ही बाहर-बाहर से वह चाहे जितना वस्तुवादी क्यों न दिखाई दे।"[9]

मीरा पर चाहे जितना भी कुल एवं समाज की मर्यादा तोड़ने का आरोप लगा हो पर वे भारतीय परम्परा के अनुसार पतिप्रेम का आदर्श निभाने वाली महिला थी। परिवार की मर्यादा तोड़ने के पीछे महानगरीय जीवन से प्रभावित पाश्चात्य संस्कृति की मनोवैज्ञानिक दृष्टि नहीं थी। एक भारतीय नारी की तरह वे एक निष्ठ प्रेम की दिव्यता और पति परायणता को स्वीकार करती हैं। मीरा ने पति एवं प्रेम के जिस महिमा की व्याख्या की है वह आधुनिक नारीवादी लेखिकाओं में दुर्लभ है। परिवार की मर्यादा को एक ओर तोड़ना तो दूसरी ओर पति प्रेम के लिए लालायित होना मीरा के जीवन का सच है, मात्र कविता नहीं। आप सासु, ननद (ऊदा), ससुर एवं देवर (राणा) की निंदा चुनौतीपूर्ण करती है मगर पति की नहीं-

''सूठा आभूषण री, सांची पियाजी री पीति।

झूठा पाट पतंबरा रे, झूठा दिखणी चीर।

साँची पियाजी गूदड़ी, जामें निरमल रहे शरीर।

xx xx xx xx xx

छैल विराणो लाख के हे, आपणे काज न होइ।

ताके संग सीधरताँ हे, भला न कहसी कोई।

बर हीणो अपणो भलो हे,कोढ़ी कुण्टी कोइ।

जाके संग सीधारताँ हे, भला कहै सब लोइ ।''10

जाति-पाँति का ऊँच-नीचपन और नारी पर अनेक प्रतिबन्धों की जो सामाजिक परम्परा है उसमें कौन राजकुमार देवर अपनी भाभी को साधु संगति करने की अनुमति देगा। महाराणा विक्रमाजीत सिंह क्षयिष्णु सामंती व्यवस्था के प्रतीक थे । मीरा अपने अधिकांश पद इन्हीं को सम्बोधित करके लिखीं । मीरा को उन्होंने पीड़ित किया था इसको प्रमाणित करने की आवश्यकता अब नहीं रह गयी है। सारा दोष राणा को ही देना उचित नहीं उस समय की सामंती व्यवस्था ही ऐसी थी जिसमें नारी को मात्र शरीर समझा जाता था। कभी जननी और जन्म-भूमि को स्वर्ग से भी अधिक महिमाशाली माना जाता था। मगर मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था मे नारी और पृथ्वी दोनों भोग की वस्तु मानी गयी - 'वीरभोग्या वसुधंरा'।

राणा को सम्बोधित पदों में व्यक्तिगत पीड़ा एवं पारिवारिक द्वेष का भाव विद्यमान है। पीड़ा को उन्होंने शास्त्र के अध्ययन से नहीं बल्कि खुद अनुभव से जाना था। मीरा का

साहित्य मात्रा में अधिक नहीं है फिर भी उसमें आत्मकथात्मक उल्लेख की विपुलता है जिससे उनका विद्रोही व्यक्तित्व प्रकट होता है । साहस और निर्भीकता उनके व्यक्तित्व का प्रमुख गुण था। जब ससुर और देवर राजा हो तो भी उनकी बात न मानने वाली विधवा के साथ सामंतों एवं समाज के अन्य लोगों का कैसा व्यवहार होगा यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। ऐसे भयावह परिवेश में अच्छे और ईमानदार लोग भी वाक्चातुर्य से काम लेते हैं। मध्यकाल क्या आधुनिक युग का कवि भी शासक की आलोचना करने में भय का अनुभव करता है अगर करता भी है तो नाम लेकर बिल्कुल नहीं। तुलसी युग की अव्यवस्था का सीधे वर्णन नहीं करते अपितु इसके लिए 'कालिकाल-वर्णन' का सहारा लेते हैं। मीरा ने साफ शब्दों में कहा राणा रूठ कर मेरा क्या कर लेगा -

"सासोद्यो रुठ्यो म्हारो कोई कर लेसी

राणोजी रुठ्यां बांरो देश रखांसी

हरि रुठ्या कुम्हलास्यां हो माई ।"11

मीरा राणा को मात्र चुनौती ही नहीं देती अपितु अपमानजनक शब्दों से सम्बोधित भी करती है । मीरा अपने भावों को व्यक्त करने में सम्बोधनात्मक ही नहीं अपितु अनेक स्थानों पर प्रश्नवाचक शैली का भी प्रयोग करती हैं। वह मध्यकालीन समाज की विधवा कितनी साहसी थी जो राजा से प्रश्न वाचक शैली में बात करती है राजा कोई और नहीं उसका देवर या ससुर है। अन्य पुरुषों से राजा को गुणहीन कहते हुए मीरा का प्रश्न-

"राणा जी थे क्यांने राखो म्हांसू बैर।

थे तो राणा जी म्हांने इसड़ा लागो ज्यो ब्रच्छन में कैर।"12

सामाजिक आधार पर राजा से और पारिवारिक आधार पर ससुर से इस अंदाज में प्रश्न करना निश्चय ही मध्ययुगीन सामान्य नारी के लिए असम्भव था। इतनी कटुता के बाद भी राणा जो कि उनके ससुर थे या देवर थे उनके लिए 'जी' शब्द का प्रयोग करके मीरा ने भारतीय नारी के आदर्श को निभाया है । मीरा की दृष्टि में समाज के अन्य लोग छायादार वृक्ष हैं तो राणा जी कैर। मीरा के हृदय में सामान्यजन के लिए अपार स्नेह एवं सहानुभूति है। मीरा के काव्य का दायरा सीमित और व्यक्तिगत है। किन्तु वे इस सीमित परिवेश का उच्छेद करके इस जकड़बन्दी को तोड़कर बाहर आना चाहती हैं। समाज व्यवस्था के नियामकों द्वारा रोकी जाती हैं ऐसे प्रतिबन्धों की पीड़ा का वर्णन करती है तो चित्रण व्यथायुक्त हो जाता है। मीरा न सिर्फ राजव्यवस्था अपितु देवव्यवस्था की असंगति के विषय में भी लिखती हैं। देवव्यवस्था मध्यकाल ही नहीं अपितु प्रत्येक काल और देश का प्रिय विषय रहा है। लोक एवं परलोक का अद्‌भुत सामंजस्य मीरा ही नहीं बल्कि भक्ति आन्दोलन के केन्द्र में रहा है-

> ''उजलो बरण बागलाँ पावाँ, कोयल वरणाँ काराँ ।
>
> नदयाँ नदयाँ निमल धारा, समुंद करयाँ जल खाराँ।
>
> मूरख जण सिहासण राजा, पण्डित फिरता द्वाराँ।
>
> मीरां रे प्रभु गिरधर नागर राणा भगत संघारा ।''13

कविता में रचनाकार का व्यक्तित्व और उसका परिवेश , उसका समाज ही प्रमुख विषय बनता है। अगर सर्जक अपने आस-पास के समाज को प्रस्तुत करता है तो निश्चय ही उसमें सच्चाई की आँच होगी। मीरा ने मध्यकालीन सामंती समाज को जितना करीब से देखा और समझा ही नहीं बल्कि भोगा भी उतना किसी अन्य सन्त को अवसर

नहीं मिला । मूर्ख जन सिंहासन पर विराजमान हैं और राणा भक्तों का संहार कर रहा है। ऐसी सीधी और निर्मम उक्ति पूरे हिन्दी साहित्य में कम ही स्थानों पर मिलती है। उन्हें सिंहासनासीन लोगों के चरित्र एवं व्यक्तित्व को देखने एवं समझने का पर्याप्त अवसर मिला था। यह समझने की बात है कि जब मूर्ख सिंहासन पर बैठा है तो लम्पट एवं नीच लोगों को संरक्षण मिलेगा, चाटुकारों की फौज तैयार होगी। ऐसे परिवेश में भक्तों के संहार के लिए राणा जिम्मेदार तो होगा ही ।

जनश्रुति और अन्तःसाक्ष्य दोनों इस बात को प्रमाणित करते हैं कि राणा द्वारा मीरा को विष दिया गया था । इस घटना को मीरा अपनी रचनाओं में अनेक बार स्वीकार करती हैं। यह निष्कर्ष तो सहज ही निकाला जा सकता है कि अगर विषपान से मीरा की मृत्यु हुई तो इस घटना का उल्लेख असम्भव है। यह सम्भव है कि ऐसे कई प्रयासों के बाद उन्हें सफलता मिली हो। प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में अनुमान ही लगाना पड़ेगा मगर इतना तो सत्य है कि राणा ने बहुत प्रकार से प्रताड़ित किया था। विषपान भले ही अमृत के समान गुणकारी नहीं हो सकता । मगर इस घटना को संघर्ष और साहस का प्रतीक तो मानना ही चाहिए।

"राणा भेज्या बिखरोप्यालो चरणामृत पी जाणा।

काला नाग पिटरयां भेज्या, सागलराय पिछाड़ा।"[14]

विष को चरणामृत समझ कर पी जाना अनेक आधुनिक आलोचकों को असत्य लगने वाली घटना है। साहित्य का विश्लेषण इतिहास की तरह सत्यता के आधार पर नहीं अपितु भावों के आधार पर होना चाहिए।एक विधवा अबला जिससे घनिष्ठ पारिवारिक रिश्ता भी है, को विष और काला नाग भेजवाना सामंती व्यवस्था की अमानवीयता को ही

प्रकट करता है। परंपरावादी और असहिष्णु मध्यकालीन समाज मीरा पर क्या-क्या आरोप लगाये होंगे, किस प्रकार और कितनी उनकी लोकनिंदा की गयी होगी- इसका अनुमान सहज नहीं है। मीरा जिस प्रकार विष को चरणामृत समझती हैं उसी भाव से उन्हें लोकनिंदा भी मीठी लगती है-

"राणो म्हाँने या बदनामी लगे मीठी।

कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूँगी चाल अपूठी।

xx xx xx xx xx

मीरा रो प्रभुगिरधर नागर, तुरजन जलो जा अंगीठी।"15

बौद्धिक स्तर पर भले ही यह बदनामी मीरा को मीठी लगती हो मगर भावात्मक स्तर पर उन्हें इससे चोट अवश्य पहुँचती थी । निन्दा करने वाले न तो मीरा के चाल और स्वभाव में पविर्तन ला सकते थे सच तो यह भी है कि मीरा भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकती थी। स्त्रियोचित मुद्रामें एक विधवा की भाँति वे सरापते हुए कहती है कि तुम लोग अंगीठी में जल मरो। मीरा को अपनी असहायता और अबलात्व का बोध है। यह बोध जितना तीव्र है उतना ही हरि के प्रति समर्पण का भाव भी। उनके जीवन में दु:खद घटनाओं का क्रम लगा रहा- बाल्यावस्था में माता की मृत्यु और फिर परिवार द्वारा उपेक्षा, व राणा का पीड़न। इसके समानान्तर उनकी लोक निंदा इन सबने मीरा को बहुत असहाय स्थिति में डाल दिया। लोक निंदा का आलम तो यह है कि विश्वप्रसिद्ध भक्त कवायित्री होने पर भी राजस्थान का एक वर्ग उन्हें आज भी आदर की निगाह से नहीं देखता है। मीरा को अपने लोगों से जो असहयोग मिला उससे अबलात्व और अकेलापन का भाव जागा।

"हाया जीवन रसण रावली, कठे जावां ब्रजराज।

मीराँ रे प्रभु और णा कॉई, राखा अवरी लाज ।"16

शोषित एवं पीड़ित स्त्रीजनों का उल्लेख मीरा अन्य भक्त कवियों की तुलना में अधिक करती हैं। आत्मनिवेदन के समय भक्त के सामने अवर्ण और सवर्ण का प्रश्न नहीं आ पाता है। मीरा जितना आदर के साथ द्रौपदी एवं अहल्या का उल्लेख करती है उतना ही आदर के साथ गोपिका, कुब्जा, गणिका और शबरी का भी। पौराणिक कथाओं पर पदों की संख्या अल्प है फिर भी एक पूरा पद शबरी पर है। पुरुष पात्रों में अगर मीरा किसी का सर्वाधिक नगर उल्लेख करती हैं तो वे गरीब सुदामा ब्राह्मण हैं। अगर मीरा ने भीलनी शबरी पर एक पूरा पद लिखा तो ब्राम्हण सुदामा पर भी। मीरा भाव एवं परिस्थिति में समान इन पात्रों को अपने नजदीक समझती है। जो जितना ही असहाय एवं गरीब है उसे प्रभु के उतना ही निकट समझती हैं। दीन-दुखियों के प्रति ऐसी ही निकटता भक्ति-आन्दोलन को करुणापूरित और लोकोन्मुख बनाती है।

मीरा ने भक्ति के आगे ऐश्वर्य की सदा उपेक्षा की । यह सत्य है कि इसमें लिप्त रहने वाला परमार्थ को प्राप्त नहीं कर सकता। कनक और काम दोनों की उपेक्षा मीरा ने किया। मध्यकाल के सामंती समाज में ऐसा त्याग दुर्लभ है। आज के अर्थशास्त्रियों की तरह मीरा ने आर्थिक विषमता के कारणों का तो विश्लेषण नहीं किया। परन्तु वे इस विषमता को देखकर और भोग कर अर्थशास्त्रियों से अधिक समझा और अनुभव किया। आज के समाज में ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं होता। मीरा ने अनुभव के अनुसार आचरण किया। मीरा साधुसंगति के लिए, लोक में घुलने मिलने के लिए राजवैभव त्यागा। वे सिर्फ इनको त्यागा ही नहीं अपितु राजा को ऊलाहना भी देती हैं कि -

''नहिं भावै भांरो देसड़लो जी रंगरूड़ो

भांरा देश में राणा साध्र नही हैं,लोक बसे सब कूड़ो।

गहणा गांठी राणा हम सब त्यागा, त्योगो करसो चूड़ो।

काजल टीकी हम सब त्यागा, त्यागो हैं बन्धन जूड़ो।''17

उपालम्भ की कटु शैली का प्रयोग मीरा के व्यक्तित्व की प्रखरता का प्रतीक है। एक ही पद में अनेक बार राणा का नाम लेकर सम्बोधित किया गया है। मीरा ने न सिर्फ लोक लाज और कुल की मर्यादा को त्यागा अपितु सामंती वैभव के सारे आडम्बर को त्याग दिया। इन परिस्थितियों में मीरा ने 'गहणा गाठी' और'दक्षिणी चीर' की कोई आवश्यकता नहीं समझी। अगर आवश्यकता समझी तो भगवा चादर और भक्ति की। मीरा ने वर्णव्यवस्था एवं राजव्यवस्था पर एक साथ प्रहार किया। कई व्यवस्था को एक साथ तोड़ने पर आर्थिक एवं सामाजिक दण्ड मिलना तो अनिवार्य था।

मीरा अपने अनेक पदों में सांसारिकता से ऊपर उठने की बात करती है किन्तु सांसारिक दु:खों की उपेक्षा नहीं। जन्म से मृत्यु तक दैहिक, दैविक औरभौतिक कष्टों से सामना होता रहा । यही कारण है कि अहिल्या , द्रुपदसुता, गणिका के साथ सुदामा को भी आदर मिला। पराधीनता और गरीबी दोनों का दु:ख जब जुड़ता है तो स्त्री शोषण और अधिक पीड़ादायक हो जाता है। मीरा के व्यक्तित्व में त्याग और विरोध की सर्जनात्मक शक्ति कहाँ से आयी? इसके स्रोत के रूप में भक्ति-आन्दोलन एवं उनके आत्मबल को माना जाना चाहिए। उनके व्यक्तिगत और कृतित्व दोनों में विरह भावना भक्तिभाव से संपृक्त होकर आयी है। उनके काव्य संघर्ष एवं जीवन संघर्ष सहधर्मी हैं।मीरा का काव्य संघर्ष और जीवन संघर्ष दोनों उनके वैधव्य से प्रारम्भ हुआ। राजपूताने में सती के स्थान पर भक्ति-

न होना एक चुनौतीपूर्ण एवं साहसिक कृत्य था। मीरा का अलौकिक विरह वर्णन लौकिक आधार पर ही खड़ा है क्योंकि उनकी कविता की समय सीमा पति की मृत्यु और उनकी मृत्यु के बीच ठहरती है। इस विरह भावना को सर्जनात्मक बनायी उनकी लोकवादी दृष्टि। इसमें प्रखरता आयी सामाजिक उपेक्षा और राणा के अमानवीय व्यवहार से। मीरा के रचना संसार में मिलन की आतुरता, मिलन में प्रतिबन्ध से आक्रोश, अपनी असहायता, उसे भावजगत में प्राप्त कर लेने का आनंद आदि भाव विद्यमान हैं।

मीरा की कविता में विष के अमृत होने का उल्लेख बारम्बार आता है, यह भले ही सत्य न हो। उनका रचना संसार ही नहीं अपितु एक एक पद दुःख से सुख में परिणत होने का प्रतीक है। विष अगर उनके जीवन और समाज का लौकिक पर्याय है तो अमृत सतसंगति और भक्ति से प्राप्त भावानंद, मीरा के साहसिक संघर्ष औरसामंती वैभव के त्याग से ही विष अमृत बना।

विरह वह तापागृह है जिसमें मीरा का व्यक्तित्व शुद्ध सोने की भाँति खरा उतरता है। महादेवी जी की तरह मीरा का व्यक्तित्व भी संयोग की अपेक्षा वियोग में अधिक रमा। नारी जीवन की यह कहानी नहीं अपितु सत्य है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि मीरा ने सारे बन्धनों को तोड़ा सभी को चुनौती दी। फिर भी उनमें नारी सुलभ लज्जा और संकोच का अभाव नहीं है-

"आवत मोरी गलियन में गिरिधारी

मैं तो छुप गयी लाज की मारी।"[18]

अगर मीरा के हृदय में कृष्ण के प्रति सिर्फ भक्ति भाव होता तो यह संकोच और लज्जा नहीं होती। चारों पुरुषार्थों से भी महान प्रेम के आगे मीरा ने भक्ति को त्यागा नहीं

बल्कि दूसरे स्थान पर प्रतिष्ठित किया। मीरा अगर लाज के मारे घुस जाती हैं तो यह नारी स्वभाव है और तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव भी। प्रेमी-प्रेमिका का मिलन भारतीय समाज में प्रतिबन्धित रहा है। मीरा कृष्ण के लोक-रक्षक रूप से ही नहीं अपितु उनके लोक रंजक रूप से भी कम प्रभावित नहीं हैं। गिरधर नागर की मुस्कान एवं मुरली की धुन दोनों मधुर हैं। उनके रूप लावण्य से सहृदय नारी का वंचित होना मुश्किल है।

हर युग में दुर्जन समाज व्यवस्था की उपेक्षा करके अबला का उपहास करते हैं, निंदा करने में भी पीछे नहीं रहते। अबला वही है जिसका कोई बल नहीं, सहारा नहीं। मीरा के दर्द को या तो घायल समझ सकता है या सावलिया। समाज के अन्य लोग तो हँसी ही उड़ाने वाले हैं। मीरा का विरह लोक एवं परलोक दोनों के प्रति है इस लिए उसमें पीड़ा, करुणा एवं समर्पणशीलता जैसे भावों की त्रिवेणी है। अधिकांश पदों में लोक एवं परलोक की पीड़ा एक साथ उभरती है।

"घोर रैणॉं बीजु चमकॉं बार गिणताँ प्रभात।

मीरा दासी स्याम राती, ललक जीवणॉं जात।"19

अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा मीरा का रचना संसार सीमित और वैविध्यपूर्ण है। फिर भी उसमें विश्वनीयता कम नहीं। मीरा समाज व्यवस्था की अमानवीयता एवं वास्तविक अनुभवों को साथ- साथ शब्दबद्ध करती हैं। विविधता और विषमता मीरा के यहाँ क्या प्रत्येक श्रेष्ठ सर्जक के यहाँ सिमट आते हैं। रचनाकार अगर व्यक्तिगत अनुभूतियों को व्यक्त करता है तो उसमें भी सामाजिकता प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आकर ही रहती है क्योंकि रचनाकार भी तो समाज की एक कड़ी होता है। मीरा ने न सिर्फ अपनी बल्कि

समाज के असंख्य नारियों एवं दु:खी जनों की व्यथा कही। सुखी व्यक्ति भले अन्य सुखी के अनुभव को न समझे मगर दु:खी- दु:खी के अनुभव को अवश्य समझता है। मीरा भक्त थी मगर मंदिर में बैठकर समाज से कटकर अलख जगाने वाली नहीं। भक्त स्त्री पुरुष के बँटवारे से परे होता है। मीरा समाज व्यवस्था द्वारा निर्धारित स्त्री-पुरुष के बन्धन को तोड़कर बाहर आना चाहती थीं मगर समाज व्यवस्था के नियामकों को सबसे अधिक खलने वाली बात यहीं थी।

मीरा कृष्ण का स्मरण माखन चोर और कन्हैया के रूप में नहीं करती है। जीवन परिस्थितियों के अनुसार वे कृष्ण को लोकरक्षक रूप में स्मरण करती हैं। गिरिधर नागर, अधम उधारण, महाराज जैसे शक्तिशाली एवं रक्षक प्रिय के शरण में जाना चाहती हैं, जिससे राणा के कोप, दुर्जनों के उत्पीड़न एवं जगत के ताप से बचा जा सके। जब शक्ति, शील,सौन्दर्य से समन्वित प्रियतम का स्मरण करती हैं तो भक्तिभाव से प्रेमभाव अपने प्रबलतम रूप में प्रकट होता है।

राजस्थान की मरू भूमि एवं समाज से मीरा का सदा सरोकार रहा । रेगिस्तानी समाज के लिए वर्षा के क्षण सर्वाधिक आह्लादक होते हैं। राजस्थानी समाज के हर वर्ग के लिए वर्षा का अलग-अलग महत्त्व है। मजदूर-खेतिहर के लिए तो है भोगी एवं विलासी के लिए भी। मीरा के काव्य संसार से गुजरने पर यह स्वाभाविक रूप से लगता है कि उन्हें जितनी आकांक्षाप्रिय मिलन की है उतनी ही बरसात की । जिस प्रकार वर्षा रेगिस्तान के ताप को शान्त करती है उसी प्रकार मीरा के जागतिक ताप को भी। मीरा ने विविध छन्दों एवं भावों में काव्य रचा मगर मिलन की भावना के साथ उनकी कविता में बरसात सहज रूप मे आती है।

"उमड़ घुमड़ घण मेघाँ आया, दामण घण झर लावण री।

बीजाँ दाबूँ मेहाँ आया बरसाँ सीतल पवन सुहावण री ।

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बेला मंगल गावण री।"20

बरसात का महीना प्रकृति में तो हरियाली और मंगल लाता है साथ ही सामाजिक जीवन के क्षेत्र में भी त्यौहारों की सुनहरी श्रृंखला का प्रारम्भ करता है। कजरी और झूमर जैसे लोक गीत इसी मौसम में गाये जाते हैं। रेगिस्तानी क्या मैदानी क्षेत्रों में भी आम जनता के बीच उल्लास भरने वाला यह मौसम होता है । प्रभु के मिलन के समय भी मीरा लोक जीवन के सुख दुःख को नहीं भूल सकती थीं।

राजस्थान की निम्नवर्गीय जातियाँ भील आदि में मीरा की रचनाएं परम्परा से लोकप्रिय रही हैं। ये जातियाँ साक्षर नहीं लगभग अनपढ़ हैं। इस वर्ग में इनकी रचना की लोकप्रियता का कारणखोजन चाहिए। मानवीय और लोकवादी विचारधारा से प्रभावित मीरा जो कि राणाकुल की बहू भी थी, रैदास चमार को अगर गुरु के रूप में वरण करती हैं तो ऐसे विचारों से उनकी रचना किस प्रकार अप्रभावित रह सकती है।

उनकी रचना एवं व्यक्तित्व पर निर्गुण, नाथपंथ, सगुण, सूफी मत आदि का प्रभाव है। मगर किसी पंथ के प्रति आग्रह या दुराग्रह नहीं। यह विशेषता मीरा में सबसे पहली बार सशक्त रूप में मिलती है। विश्वनाथ त्रिपाठी का तो यहाँ तक कहना है कि –"उनके यहाँ इन वादों और प्रवृत्तियों का सत्याग्रह या दुराग्रह नहीं होता । सुभद्राकुमारी चौहान कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, ममता कालिया सभी के यहाँ यह बात लागू होती है।"21 इन महिला लेखिकाओं में एक बात समान रूप से मिलती है कि ये अनावश्यक सामाजिक परम्परा के बन्धन को तोड़ने में संकोच नहीं करती हैं।

बाहर प्रिय दिखाई पड़ता है मगर पारिवारिक एवं सामाजिक बन्धन के चलते मीरा प्रिय के पास पहुँच नहीं सकती। प्रिय मिलन के लिए खुद संघर्ष नहीं करता है। इसके बाद प्रारम्भ होती है इन्तजार की लम्बी घड़ियाँ। यह सिर्फ मीरा की समस्या नहीं बल्कि ठेठ मध्यकालीन भारतीय नारी की है। परम्परागत भारतीय समाज आज भी इस समस्या से अछूता नहीं है। दर्शन की लालसा और इन्तजार की घड़ियाँ काटने वाली नारी की आँखों का वर्णन साहित्य में अकारण नहीं। नयनों की चंचलता और उसके बाद जल धार सामाजिकता से जुड़ा व्यक्तिगत औरवास्तविक कारण है। प्रत्येक काल के सामान्य नारी दशा और भावना को व्यक्त करने के लिए नयनों का चित्रण अनिवार्य है। मीरा का रचना संसार भे इससे अछूता नहीं है-

"णेणाँ लोभाँ अटकाँ शक्या णा फिर आय ।

रूँम रूँम नखसिख लख्याँ, ललक-ललक अकुलाय।

म्हाँ ठाढ़ी घर आपणे, मोहण निकल्यां आय।

सकल कुटुम्बाँ बरजताँ, बोल्या बोल वणाय ।"22

भक्ति औरप्रेम जैसे मधुर भाव के द्वारा मीरा ने सामाजिक वैषम्य और लिंगीय भेदभाव को चुनौती दी । स्त्री के मूलभूत सामाजिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली वह पहली भारतीय लेखिका है। आधुनिक शब्दावली का सहारा लेकर उन्हें स्त्रीवादी भी कहा जा सकता है। आधुनिक युग का स्त्रीवाद राजनीतिक मन्तव्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है तो मध्यकालीन स्त्रीवाद धर्म से। स्त्री की दृष्टि से जो उचित है उसे करने का अधिकार उसे होना चाहिए। उसे लोक-निंदा, पुरुष वर्चस्व और पारिवारिक दबावों के आगे झुकना नहीं चाहिए। ऐसी परिस्थितियों के प्रति मीरा का रवैया समझौता-हीन था। उनकी लोकप्रियता का यहीं प्रमुख कारण है।

मीरा का समूचा जीवन संघर्ष 'स्त्री अस्मिता' की स्वतंत्र पहचान के लिए था। बगैर पुरुष संदर्भ के भारतीय समाज में स्त्री अस्मिता की पहचान बनाना सदैव दुरुह और जोखिम भरा कार्य रहा है। इस जोखिम को मीरा ने सृजन और जीवन के क्षेत्र में उठाया। नारी को अपनी अस्मिता की स्वतंत्र पहचान के लिए कलात्मक एवं सर्जनात्मक क्षेत्र का चुनाव करना ही होगा । इसके अभाव में पुरुष के वर्चस्ववादी दायरे को तोड़ना मुश्किल होगा। इसमें कोई दो राय नहीं कि मीराबाई पुरुष वादी सत्ता को कलात्मक और साहसिक अंदाज में चुनौती दी।

मीरा जिस राणा परिवार की विधवा थी वहाँ एक लिंग और भवानी की पूजा का विधान था। मीरा समाज एवं धर्म के अधिनायकवादी दृष्टिकोण का निषेध करती हैं। धार्मिक अधिनायकवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन करता हैऔर अंधानुकरण को विवश। यह ईश्वर की महत्ता और उसकी सत्ता को थोपने का प्रयास करता है। समर्पण से पूर्व यहाँ पर पुरुष की कोई पहचान नहीं, स्त्री की तो बाद में भी नहीं। अधिनायकवादी नजरिया धर्म को अविवेकवादी और जड़ बना देता हे। जिससे धर्म के अन्दर मानवता और स्वतंत्रता जैसे मूल्यों का ह्रास होने लगता है। मीरा ने ऐसे मूल्यों के क्षरण को रोकने का प्रयास जीवन के अन्तिम क्षण तक किया।

प्रेम एवं तर्क की शक्ति से आन्दोलित होने पर ही व्यक्ति अधिनायकवादी नजरिये का विरोध कर सकता है। ऐसे भावों के जागृत होने पर विरोधी के शक्ति की परवाह नहीं रह पाती है। स्वतंत्रता का बोध होने पर ही व्यक्ति को अपनी शक्ति का अहसास होता है । स्वतंत्रता और अस्मिता की पहचान में तभी स्थायित्व आता है जब मनुष्य अनुभव के आधार पर सोचे ओर तर्क करे तथा उसी के अनुसार निर्णय ले। इस दृष्टिकोण से विचार करें तो मीरा एक अलग किस्म की लेखिका नजर आयेगी। अपनी जिंदगी और अनुभूतियों

को प्रगतिशील और आलोचनात्मक ढंग से देखती हैं। मध्यकालीन समाज की यह विधवा अपने को लिंग-नस्ल-वंश और सम्प्रदाय आदि सभी रिश्तों से मुक्त रखने का प्रयास करती हैं।

मानवतावाद को वह परम्परागत रुढ़ियों और पुरुष वादी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष का हथियार बनाती हैं। उनका और उनकी कविता का प्रारम्भ और अन्त प्रेम और मानवता के अन्योन्याश्रित रिश्तों के व्यापक रूप देने में होता है। नाथसिद्ध, कबीर, निराला और मुक्तिबोध की तरह मीरा की कविता भी सत्ता के प्रतिरोधी भावबोध से युक्त हैं।

बागी होने का अर्थ होता है 'स्व' और 'समाज' दोनों से मुक्ति। बागी वह होता है जिसमें 'ना' कहने की हिम्मत हो और यथास्थितिवाद को चुनौती देने का साहस । यह सत्य है कि समाज व्यवस्था में परिवर्तन और विकास इस बागी विचारधारा से ही होता है। सामंती समाज चाटुकारिता और आज्ञाकारिता पर टिका होता है। ऐसे परिवेश में मीरा जैसी बागी महिला कैसे रह सकती थी। इस लिए उन्होंने इसका विरोध और परित्याग किया।

वे किसी पुरुष को औपचारिक ढंग से अपना गुरु नहीं स्वीकार कीं। संत समाज और काव्यक्षितिज दोनों क्षेत्रों में अपनी पहचान बगैर किसी पुरुष के सहयोग से बनायी। मंदिर में आराध्य की मूर्ति के सम्मुख नृत्य और सतसंग में हिस्सेदारी उनकी ये प्रमुख गतिविधियाँ थी। मध्यकालीन समाज में नारी की ऐसी गतिविधियाँ अघोषित नियमों के आधार पर प्रतिबन्धित थी। अबला होते हुए भी मीरा कभी ऐसे प्रतिबन्धों कीपरवाह नहीं की।

गृहिणी जीवन और पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध उनके प्रेमकाव्य और जीवन का प्रमुख लक्ष्य है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री पर किस कदर जुल्म ढाहे जाते हैं और परिजनों का रवैया कितना अमानवीय होता है। इस समस्या को सामाजिक स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली मीरा पहली भारतीय लेखिका हैं।इस समस्या को वे किसी राजनीतिक आन्दोलन या साम्प्रदायिक मतवाद से प्रभावित होकर नहीं उठायीं। अपितु इसकी प्रेरणा का स्रोत तो स्त्री का आन्तरिक मानवतावाद है।

नारी की पीड़ा, दुःख और दमन सदा निजी रहा । नारी इसे गोपनीय रखने का प्रयास करती रही जिससे पुरुषवादी वर्चस्व और मजबूत हुआ। नारी जीवन में जो कुछ व्यक्तिगत था मीरा ने स्वाभिमान के साथ उसे सामाजिक कर दिया।

मीरा के माधुर्यकाव्य में आयी नयी अंतर्वस्तु का नई शहरी अर्थव्यवस्था से घनिष्ठ अन्तर्सम्बन्ध है। व्यापार एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आयी नयी शैली ने विनिमय के नये रूपों को जन्म दिया। परिणामस्वरूप जड़ जीवन शैली, परम्परागत मान्यताएं टूटी और उनमें तेजी से परिवर्तन घटित हुआ। नए मानवीय परिवर्तनों को समझने में मीरा सफल रहीं। व्यवसायिक पूँजीवादी युग में जातिगत गुणों और अधिकारों के स्थान पर व्यक्तिगत गुणों को प्रतिष्ठा मिलने लगी। व्यापारिक पूँजीवादी के प्रभाव के कारण ही धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण का उदय हुआ। इस परिवेश में धर्म सिर्फ सवर्णों की बपौती नहीं रह सकता था बल्कि सर्ववर्णों की सम्पत्ति बना। धर्म निरपेक्ष विचारधारा के विकास की प्रक्रिया का नगरी सभ्यता के विकास से गहरा सम्बन्ध है। नयी जातियों एवं पेशेवर समूहों के उदय से सामाजिक संरचना में बदलाव आया। परिणामस्वरूप परम्परागत विश्वासों एवं पूर्वाग्रहों का क्षरण हुआ। इन सारे परिवर्तनों और बदलावों का प्रभाव न सिर्फ मीराबाई पर था अपितु पूरे भक्ति-आन्दोलन पर भी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. परशुराम चतुर्वेदी – "मीराबाई की पदावली", पृ0 सं0 110, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
2. परशुराम चतुर्वेदी – "मीराबाई की पदावली", पृ0 सं0 111, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
3. परशुराम चतुर्वेदी – "मीराबाई की पदावली", पृ0 सं0 112, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
4. परशुराम चतुर्वेदी – "मीराबाई की पदावली", पृ0 सं0 113, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
5. परशुराम चतुर्वेदी – "मीराबाई की पदावली", पृ0 सं0 104, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
6. "मीरा का काव्य" – विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ0 संख्या 60, द्वितीय संस्करण – 1998 वाणी प्रकाशन दरियागंज, नयी दिल्ली।
7. परशुराम चतुर्वेदी – "मीराबाई की पदावली", पृ0 सं0 149, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
8. डा0 वासुदेस सिंह – "कबीर साखी सुधा" पृ0 सं0 64 प्रथम संस्करण, अभिव्यक्ति प्रकाशन, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद ।
9. "मुक्ति बोध" –"काव्य की रचना प्रक्रिया", निबन्ध से "हिन्दी आलोचना पहचान और परख" पृ0 संख्या 123

10. परशुराम चतुर्वेदी – ''मीराबाई की पदावली'', पृ0 सं0 107, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

11. परशुराम चतुर्वेदी – ''मीराबाई की पदावली'', पृ0 सं0 110, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

12. वही

13. परशुराम चतुर्वेदी – ''मीराबाई की पदावली'', पृ0 सं0 115, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

14. परशुराम चतुर्वेदी – ''मीराबाई की पदावली'', पृ0 सं0 111 और 112 , संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

15. परशुराम चतुर्वेदी – ''मीराबाई की पदावली'', पृ0 सं0 110, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

16. परशुराम चतुर्वेदी – ''मीराबाई की पदावली'', पृ0 सं0 114, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

17. वियोगी हरि – ''मीराबाई के सुबोध पद'' पृ0 संख्या 40, छठा संस्करण 2001, सस्ता साहित्य मण्डल, कनॉट सर्कस नई दिल्ली।

18. विश्वनाथ त्रिपाठी – ''मीरा का काव्य'' पृ0 संख्या 73 द्वितीय संस्करण 1998 वाणी प्रकाशन दरियागंज,नयी दिल्ली।

19. परशुराम चतुर्वेदी – ''मीराबाई की पदावली'', पृ0 सं0 119, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

20. परशुराम चतुर्वेदी – ''मीराबाई की पदावली , पृ0 सं0 142, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

21. विश्वनाथ त्रिपाठी– ''मीरा का काव्य'' पृ0 सं0 81, द्वितीय संस्करण 1998 वाणी प्रकाशन दरियागंज,नयी दिल्ली।

22. परशुराम चतुर्वेदी – ''मीराबाई की पदावली'', पृ0 सं0 102, संस्करण 19वां, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

अध्याय – 9

उपसंहार

हमारा आदिम समाज मातृसत्तात्मक और कबिलाई था। आदिम समाज में कृषि और पशुधन सामूहिक सम्पत्ति हुआ करती थी। सामाजिक संगठन का मूलाधार स्त्री-पुरुष की समनता और सहभागिता थी। शारीरिक शक्ति के अनुसार नैसर्गिक ढंग से काम का बटवारा हुआ। जिसमें पुरुष को शिकार कृषि, व्यापार, और युद्ध जैसा प्रभुत्व सम्पन्न कार्य मिला और स्त्रियों को हाथ लगी – वागवानी और गृहस्थी। प्रारम्भिक चरण में तो दोनों के कामों का सामाजिक और सार्वजनिक महत्त्व था। कबिलाई समाज के विखण्डन के बाद ही वर्ण–व्यवस्था का जन्म हुआ । इस व्यवस्था में न सिर्फ पुरुषों के बीच श्रम के आधार पर (बाद में जन्म के आधार पर) छोटे–बड़े का भेद भाव उत्पन्न किया अपितु स्त्री और पुरुष के बीच थी। सभ्यता के तकनीकी विकास के साथ पुरुष के श्रम का महत्त्व बढ़ता गया। पुरुष के कार्यों का आर्थिक महत्व प्रौद्योगिकी के विकास के साथ बढ़ा, जिससे स्वामित्व की भावना विकसित हुई। मातृसत्तात्मक परिवारों के पितृ–सत्तात्मक परिवार में बदलने के मूल में यही स्वामित्व की भावना थी प्रारम्भिकचरण में जिन घरेलू कार्यों के दायित्व निर्वाह के कारण उसे सामाजिक सम्मान मिला था, वही बाद में उसकी पराधीनता और दासता का कारण बना। यहीं से प्रारम्भ होती है नारी–शोषण की कहानी जो सभ्यता के विकास के साथ अपनी गति और स्वरूप को बदलती रही है। स्त्री का शोषण चाहे जितना हुआ मगर परिवार के स्वरूप का निर्धारण उसकी स्थिति के अनुसार ही हुआ है।

स्त्री का पारिवारिक इतिहास कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और परिवर्तनशील रहा है। यूथ विवाह से निर्मित मातृ-सत्तात्मक परिवार और वर्तमान एक विवाह वाले परिवारों के बीच एक संक्रमणकालीन अवस्था रही है। यह संक्रमण का दौर दीर्घकालिक था जिसमें बहुपत्नी प्रथा के साथ साथ बहुपति प्रथाएँ भी विद्यमान रहीं । एक विवाह प्रथा स्त्री-पुरुष के सहमति को नहीं, अपितु पुरुष के स्वामित्व और आधिपत्य भाव का विकसित रूप है। इस प्रथा में पुरुष जितना स्वतंत्र है, स्त्री उतनी ही परतंत्र। एक विवाह प्रथा के समानान्तर हमारे समाज में दास-प्रथा भी थी। जहाँ सुन्दर दासियाँ पुरुषों के लिए उपभोग की सामग्री हुआ करती थीं। इस प्रकार, एक विवाह का बन्धन तो केवल नारी के लिए था पुरुष तो इससे सदामुक्त रहा है।

जिस समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव होता था, वहाँ स्त्री को पुरुष के बराबर सम्मान और हक प्राप्त था। मध्यकालीन समाज क्या आधुनिक युग के प्रारम्भिक चरण में भी शूद्रों में विवाह का बन्धन उतना जटिल नहीं था जितना कि उच्च वर्णों में। श्रमजीवी और शूद्र वर्ग की स्त्रियाँ पुरुषों के साथ खेतों और चारागाहों में कंधे से कंधा मिलाकर काम करती थीं। उनका और उनके श्रम का आर्थिक दृष्टि से परिवार में योगदान था, इसलिए वे कुछ हद तक स्वतंत्रता और समानता जैसे अधिकार को भी प्राप्त कर चुकी थीं। श्रम के लिए ही सही घर के दमघोंटू परिवेश और चहारदीवारी के कैद से बाहर निकलने का उन्हें अवसर मिलता था। इसके विपरीत उच्च वर्ग की स्त्रियाँ पर्दा में रहती थी, पुनर्विवाह से वंचित और सतीप्रथा को स्वीकारने के लिए मजबूर थीं।

सामंतवाद का प्रमुख आधार है - वर्ण-व्यवस्था। जहाँ एक पक्षीय वैवाहिक एकनिष्ठता के कारण नारी और शूद्र दोनों शोषित थे। सच तो यह है कि स्त्रियाँ,पुरुषों से और अवर्ण सवर्णों से किसी मामले में हीन नहीं होते हैं, लेकिन अमानवीय व्यवस्था ने

उन्हें ऐसा बना करके ही चैन लिया। अतः कहा जा सकता है कि मध्यकालीन समाज में नारी शोषण सामंती व्यवस्था और वर्णाश्रम धर्म की परस्पर सहभागिता से हुआ। फिर भी महिलाओं की प्रतिभा को पूर्णतः नष्ट नहीं किया जा सका। रजिया सुलताना, चाँदबीबी, नूरजहाँ जैसी चंद महिलाएं समाज में अधिकार एवं सम्मान के साथ रहीं। मीरा का सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी मध्ययुग के सन्दर्भ में देखा जाय तो कम साहसिक नहीं था। नारी शोषण के सन्दर्भ में एंगिल्स का कथन काफी तर्क संगत है-"इतिहास का पहला वर्ग उत्पीड़न पुरुष द्वारा नारी के उत्पीड़न के साथ-साथ प्रकट होता है।"[1]

मध्यकाल में उपजा भक्ति आन्दोलन कई दृष्टियों से क्रान्तिकारी और प्रगतिशील था। बौद्ध धर्म के बाद शोषित स्त्री-पुरुषों को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला यह आन्दोलन है। बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक चरण में संघ में स्त्रियों के प्रवेश पर रोक थी। प्रवेश के कुछ दिनों बाद व्यभिचार भी बढ़ने लगा, मगर भक्ति आन्दोलन के प्रारम्भ से ही स्त्रियों की उसमें सहभागिता रही। "आंडाल" इसका प्रमाण है। "भक्तमाल के एक छप्पय में कलियुग युवती जन भक्त की सूची दी गयी है।.....

सीता, झाली, सुमति शोभा, प्रभुता, उमा भटियानी।

गंगा गौरी कुवरि उबीठा, गोपाली, गणेश दे रानी

कला लखा कृतगढ़ौ, मानमती, शुचि सतिभामा

यमुना, कोली, रामा, मृगा, देवा , दे भक्तन विश्रामा

जुगजेवा, कीकी, कमला, देवकी, हीरा, हरिचेरी पोषे भगत

कलियुग युवती जन भक्त राज महिमा सब जानै जगत।"[2]

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस सूची का सम्बन्ध केवल हिन्दी प्रदेश से है और मीरा, सहजो प्रमुख भक्त कवयित्रियों का इसमें नाम तक नहीं। अतः यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि भक्ति आन्दोलन से जुड़ी महिलाओं की संख्या और अधिक थी। 'भक्तमाल' और 'वैष्णवन की वार्ता' में सामान्य ही नहीं बल्कि सामाजिक दृष्टि से हेय स्त्रियों का भी उल्लेख आता है। जिसमें अनेक वेश्याएं भी हैं। नरसी मेहता के साथ, उनकी दो लड़की और दो नाचने वाली जो कि निम्न जाति की हैं, रहती थीं। रामानन्द से शिष्यता सुरसुरानंद के साथ उनकी घरवाली ने भी स्वीकार की थी। आधुनिक काल को छोड़कर पूरे हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल की कवयित्रियों की संख्या सबसे अधिक है।

वर्णाश्रम धर्मी सामंती व्यवस्था में नारी और शूद्र समान रूप से पीड़ित थे। अकारण नहीं हमारे धर्मग्रन्थों में नारी और शूद्र का सहउल्लेख मिलता है धर्म ग्रन्थों के इस सह उल्लेख की परम्परा को राम-भक्ति शाखा आगे बढ़ाती है। सामंती समाज में नारी और शूद्र की स्थिति और इसके कारण पर रामविलास शर्मा 'निराला की साहित्य साधना' में लिखते हैं —"शूद्रों में जहाँ स्त्री-पुरुष के साथ काम करती है वह द्विजवर्ण की देवियों की तुलना में अधिक समर्थ होती है। जैसे वर्णव्यवस्था विश्वव्यापी है वैसे ही नारी पराधीनता। सामंती व्यवस्था जहाँ ज्यादा पुरानी और मजबूत होगी वहाँ जाति-पाँति के भेद भाव की तरह स्त्री और पुरुष के छोटे-बड़े का भेद भी ज्यादा होगा।"[3]

भक्ति आन्दोलन मूलतः सामाजिक आन्दोलन था। जो स्त्री को घर की चारदीवारी से बाहर आने का और पुरुष को वर्ण-वर्ग का बन्धन तोड़ने का निमंत्रण देता है। सामंती समाज में उच्च वर्ण की नारी को घर से बाहर निकलने की अनुमति नहीं थी। मीरा के जीवन का यही भौतिक और सामाजिक संघर्ष था। उन परिस्थितियों पर भी विचार होना चाहिए जिसमें वर्ण व्यवस्था विरोधी, अंत्यजों और नारियों को सम्मान देने वाले सांस्कृतिक

आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। पहली शताब्दी के बाद दक्षिण भारत में चोल जैसे अनेक पराक्रमी राजवंशों की स्थापना हुयी। इनके शासक न सिर्फ पराक्रमी थे अपितु कृषि और व्यापार पर भी ध्यान देते थे। युद्ध बन्दियों को काम पर लगाने से व्यापार एवं वाणिज्य में उन्नति हुई। सर्वतोमुखी आर्थिक विकास से शूद्रों और शिल्पियों में जाग्रति आना स्वाभाविक है।

उत्तर भारत में भक्ति–आन्दोलन के विकास में अंत्यजों शिल्पियों और जाटों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यहाँ इस आन्दोलन को सर्वव्यापी बनाने का श्रेय रामानन्द को जाता है । नये शासन की स्थापना के साथ विलास सामग्री और सुविधाओं की माँग बढ़ी। जिसके कारण शिल्पियों को न सिर्फ पुरानी तकनीक, का सुधार करना पड़ा, अपितु नयी कलाओं और तकनीक को स्वीकार भी करना पड़ा । घोड़े की नालों, रकाबों, मेहराबों और कागज का निर्माण होने लगा । आर्थिक विकास और शहरीकरण से जाति और धर्म के बन्धन ढीले पड़ने लगे परिणाम स्वरूप नयी चेतना का विकास हुआ। इस नयी चेतना में श्रद्धा को कम बुद्धि और विवेक को अधिक महत्त्व मिला। कुछ ऐसी ही परिस्थितियों को केन्द्र में देखकर सन्त कबीर कह उठते हैं–

"सन्तौं भाई आई ग्यान की आंधी रे

भ्रम की टाटी सबै उड़ाँणी, माया रहै न बाँधी।

हिति चित की द्वै थूँनी गिरानी, मोह बलिंडा टूटा

त्रिस्नाँ छानि परि धरि ऊपरि, कुबुधि का भाँडाँ फूटा।"

जोग जुगति करि संतौ बाँधी, निरचू चुवै न पाँणी।

कूड़कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणी।

आँधी पीछै जो जल बूठा, प्रेम हरि जन भींनाँ।

कहै कबीर भाँन के प्रकटे, उदित भया तम षींणाँ।"4

भक्ति-आन्दोलन की अधिकांश विशेषताओं का समाहार कबीर के इस पद में है। वर्णव्यवस्था से प्रारम्भ नारी-शोषण सामंती व्यवस्था में अपने चरम पर था। भक्ति-आन्दोलन प्रत्यक्ष रूप से न सही परोक्ष रूप से ही सही नारी के अधिकारों की बात करता है एक सीमा तक मुक्ति की भी।

इस आन्दोलन के सर्वाधिक सशक्त और लोकप्रिय कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं। इनके रचना संसार में विषयवस्तु और भाव दोनों की व्यापकता है। इनके रचना पर सर्वाधिक प्रभाव श्रुतिसम्मत वेद मार्ग और समकालीन सामाजिक परिस्थितियों का है। गोस्वामी जी की समाजशास्त्रीय दृष्टि आदर्श एवं मर्यादा पर टिकी रही। आपके अनुसार विभिन्न पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्ध त्याग एवं उत्सर्ग के प्रतीक हैं। सामाजिक जीवन का मूलाधार है गृहस्थाश्रम और गृहस्थाश्रम की रीढ़ है नारी। तुलसी की नारी विषयक दृष्टि वैविध्यपूर्ण और विरोधाभास से युक्त है।

तुलसीदास स्त्री को पतिव्रता और मर्यादित रूप में देखना पसन्द करते हैं। आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करने पर प्रताड़ित ही नहीं होती, अपितु उसे जान से भी हाथ धोना पड़ता है। जैसा कि सूर्पणखा और ताड़का के साथ हुआ। ऐसे पात्रों की निन्दा तुलसी कभी स्वयं उपस्थित होकर करते हैं तो कभी पात्रों द्वारा करवाते हैं। तुलसी की स्त्री विषयक अवधारणा मुख्यतः दो रूपों में प्रकट होती है- प्रथम नारी विषयक मान्यताओं के सैद्धान्तिक निरूपण में, द्वितीय नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में। राम के प्रति श्रद्धा और

भक्ति रखने वाले पात्र चाहे स्त्री हो या पुरुष तुलसी की दृष्टि में कभी निन्दा के पात्र नहीं हो सकते। सतपात्रता की इनके यहाँ एक ही कसौटी है- रामभक्ति।

'मानस' में सर्वाधिक अत्याचार की शिकार है प्रतिपक्ष की स्त्रियाँ । ताड़का को दो पक्तियों में ही स्थान मिलता है, इतने में उसका बध भी हो जाता है-

''चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥

एकहिं वान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥''5

घटना किसी भी युग की हो स्त्री की ओर किसी को दिखाना अशिष्टता ही मानी जायेगी। इन परिस्थितियों में ताड़का का क्रुद्ध होना स्वाभाविक है। निःशस्त्र स्त्री को दूर से ही बाण द्वारा मार देने में कौन सी रघुकुल रीति है? तुलसी मर्यादा पुरुषोत्तम के रक्षार्थ ही लिखते हैं- ''दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा''। 'मानस' मे ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जब स्त्रियों को अकारण दण्ड दिया जाता है उन्हें हेय सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। सूर्पणखा तो मोहित होकर शादी का प्रस्ताव ही रखती है उसे पहले बार-बार इधर-उधर दौड़ाया जाता है। फिर उसके नाक-कान काट लिये जाते हैं। अविवाहित स्त्री को जान से मार देना ठीक है मगर उसके नाक-कान को काट कर जीवन बर्बाद करना अनुचित ही है। परपुरुष-गमन में अहिल्या का कोई दोष नहीं उसने तो इन्द्र को गौतम ऋषि समझ लिया था, फिर भी उसे बार-बार पतित और अधम कहा जाता है। कैकयी और मंथरा के चरित्र को ऐसे प्रस्तुत किया है कि वे हमारे समाज में ईर्ष्या और द्वेष की प्रतीक बन गयी हैं। देव-संस्कृति की रक्षा और राक्षसों के विनाश के लिए जो कार्य-योजना बनायी जाती है। उसमें सर्व प्रथम एक नारी सरस्वती को ही लोगों की मति परिवर्तन का कार्य सौंपा जाता है। इस प्रकार, देखा जाय तो देवताओं द्वारा नारी को मोहरा बनाकर छद्म युद्ध लड़ा गया। आगे हरण भी होता है तो सीता जैसी पवित्र नारी का ही।

सुनारियों की संख्या से बहुत कम हैं- कुनारियाँ। जबकि कुपुरुषों की संख्या उनसे काफी अधिक है।तुलसी साहित्य में नारी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ आती है- सीमित स्थलों पर ही सही। रावण जैसे विद्वान और घमण्डी के सामने मंदोदरी का व्यक्तित्व अपनी पूरी महिमा के साथ उभर कर आता है। उसमें न सिर्फ भक्ति भाव है अपितु राजनीतिक कुशलता भी। तभी तो वह राम से सन्धि के लिए रावण को मनाना चाहती है।

प्रबन्धकार कवि के लिए कोई भी निष्कर्ष पूरी रचना के आलोक में निकाला जाना चाहिए न किसी पंक्ति विशेष के आधार पर। साहित्य में परम्परागत ढंग से प्रयुक्त और लोक प्रचलित कथन जो कि स्त्री जीवन से सम्बन्धित रहे हैं, उसे 'मानस' में गोस्वामी जी संशोधित करके प्रस्तुत करते हैं। इस पर भी इन पंक्तियों में कटुता और नारी के प्रति अमानवीय भाव अपने चरम पर है-

"भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥

होइ बिकल सक मनहिं न रोकी । जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥"[6]

ऐसी अनेक पंक्तियाँ उनके रचना संसार में आती हैं जिससे वे नारी निंदक ही सिद्ध होते हैं। भक्ति और कवित्व के साथ नीति व लोकधर्म का विवेचन भी तुलसी का ध्येय रहा है। सतसंग और संस्कारों के अनुसार उनकी दृष्टि परम्परावादी रही है। उनके नारी विषयक विचार इस बात के द्योतक हैं कि मध्ययुगीन पुरुष स्त्री के प्रति कैसी अवधारणा रखते थे। मध्ययुग से लेकर आधुनिक काल तक स्त्री समाज में कोई भक्त कवि अगर सर्वाधिक स्वीकार्य ओर लोकप्रिय रहा तो वे तुलसीदास ही हैं। लोकतान्त्रिक समाज में जहाँ स्त्री-पुरुष को समान अधिकार प्राप्त है, तो क्यों पुरुष ही गोस्वामी जी के स्त्री-विषयक अवधारणा का विरोधी है।

सामंती मूल्यों एवं भोगवादी व्यवस्था का विरोध भक्तिकाल के प्रत्येक रचनाकार द्वारा हुआ है। विरोध का अंदाज सबका अलग-अलग रहा है। कबीर जैसी आक्रामता सूर में नहीं - निषेध के माध्यम से सांकेतिक विरोध है, प्रगतिवादी आन्दोलन से पांच सौ वर्ष पूर्व सूर ने राजवंशीय नायक की दीर्घकालिक परम्परा को तोड़कर गोचारक को नायकत्व सौंपा। मथुराधीश बनने के बाद गोपियों का प्रेम तो उनके प्रति है मगर व्यंग्य-विरोध और स्वाभिमान के साथ। मथुराधीश के प्रति गोपियों का आक्रोश दिल्लीधीश के प्रति जनता की आवाज है।

सूरदास हिन्दी साहित्य के प्रथम गायक हैं जिनकी आवाज में माता की मिश्री एवं सखा के माधुर्य का मणिकांचन संयोग है। गोचारण-संस्कृति में चित्रित गोपियों एवं राधा का प्रेम सामंती मर्यादावाद एवं नैतिकता से मुक्त है। सूर द्वारा सृजित उन्मुक्त प्रेम की परिकल्पना विवाह एवं परिवार सम्बन्धी परम्परागत अवधारणा की विरोधी है। यहाँ स्त्री के व्यक्तित्व और चरित्र का चित्रांकन उन्मुक्त एवं स्वतंत्र ढंग से हुआ है। बाल-लीला वर्णन द्वारा माँ की महिमा को स्थापित करने का प्रयास है। सूर-साहित्य में नारी का पारिवारिक एवं सामाजिक महत्त्व अद्वितीय है। प्रेमिका के रूप में राधा, पत्नी और माता के रूप में यशोदा की भूमिका स्वतंत्र है। पारिवारिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में नन्द यशोदा के साथ विचार-विमर्श करते हैं, सलाह एवं सहयोग को सहर्ष स्वीकार करते हैं।

मध्यकालीन समाज में संयास की मनोवृत्ति बढ़ने से स्त्री के प्रति उपेक्षा का भाव जागा। अंधकवि ने पतनशील सामंती-व्यवस्था के अवगुणों को भले न देखा हो मगर अनुभव अवश्य किया था। यही कारण है कि वर्णव्यवस्था एवं नारी पराधीनता की समस्या उनके रचना के केन्द्र में है। गोप-गोपियों के माध्यम से सामान्य स्त्री-पुरुष साहित्य जगत में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। राधा सूरदास की अद्वितीय एवं मौलिक रचना है। सामान्य

कुलोत्पन्न कन्या को अपने काव्य का प्रमुख पात्र चुनने वाले सूर प्रथम महाकवि हैं। राधा के व्यक्तित्व में कहीं भी अभिजात्य का दर्प नहीं है। शास्त्रीय आधार पर देखा जाय तो एक नायिका के कुछ ही गुण राधा में हैं, इसके बाद भी वह भारतीय साहित्य की श्रेष्ठ नायिका हैं। स्त्री–पुरुष समानता और नारी मुक्ति चेतना जैसे समसामयिक नारों की प्रथम अनुगूँज सूर-साहित्य में सुनायी पड़ती है। नारी की पुरुष के समान अधिकार और भाव दिलाने का प्रयास सूर ने किया और साधन बने राधा-माधव –

"राधा माधव भेंट भई ।

राधा माधव, माधव राधा, कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई।

माधव राधा रंग राँचे, राधा माधव रंग रई ।

माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई ।"[7]

राधा माधव एक दूसरे के भावात्मक धरातल पर आना–उदारभावों का क्रान्तिकारी रूपायन है। मध्यकालीन ही नहीं अपितु आधुनिक साहित्य और समाज के सन्दर्भ में यह भावना नितांत प्रगतिशील है।

'भ्रमरगीत' में सगुण और निर्गुण का संघर्ष तो आरोपित है वास्तविक लड़ाई तो स्त्री के अधिकार और मान सम्मान की हैं। यहाँ प्रतिस्पर्धा एक और जनसमुदाय के बीच चलती है, ज्ञान की गठरी सिर पर लेकर पंडित उद्धव नगर से आते हैं और गँवार ग्वालिनों द्वारा पराजित हो जाते हैं–

"ऊधौ मौन साधि रहे ।

जोग कहि पछितात मन मन, बहुरि कछु न कहे।

स्याम कौं यह नहीं बूझे, अतिहि रहे सिखाइ ।

कहा मैं कहि, कहि लजानौ, नार रह्यौ नवाइ ।"[8]

अकेले उद्धव पर गोपियों की सामूहिक विजय जनतान्त्रिक मूल्यों की जीत है। स्त्री स्वतंत्रता जैसा आधुनिक लोकतान्त्रिक मूल्य भी राधा और गोपियों के व्यक्तित्व का एक हिस्सा है। गोपियों को विरह में मरना पसन्द है, मगर सम्मान त्यागकर मथुरा जाना उनकी दृष्टि से अनुचित है। सूर-साहित्य में स्त्री की कहीं पूजा नहीं होती, वह पुरुष के साथ-साथ रहती है सात पर्दा के ओट में नहीं। गोपियाँ उद्धव से प्रथम मिलन में ही हृदय के जिन भावों को व्यक्त करती हैं, ऐसी परिस्थिति में उन भावों को आधुनिक महानगर की स्त्री भी नहीं व्यक्त कर सकती।

आम स्त्री की हमारे समाज में कोई स्वतंत्र पहचान नहीं। वह पुरुष सम्बन्धों के माध्यम से जानी जाती है। बचपन में किसी की पुत्री के रूप में, फिर किसी की पत्नी के रूप में और पति के मरने के बाद किसी की माता के रूप में जानी जाती है। इस प्रकार देखा जाय तो उम्र बढ़ने के साथ स्त्री की स्वतंत्र पहचान खत्म होने लगती है और पुरुष की बनने लगती है। सूर यशोदा और राधा को स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करते हैं और नामोल्लेख द्वारा सम्बोधन प्रदान करते हैं। पत्नी और पुत्री के सम्बन्धों में बाँध कर देर तक नहीं स्वीकार कर पाते हैं। गोपियों तक का व्यक्तित्व परिवार एवं घर के दमघोंटू परिवेश से मुक्त है। प्रेम एवं विवाह सम्बन्धि व्यक्तिगत मामलों में उन्हें निर्णय लेने का अधिकार है। गोपियाँ दिन भर मधुबन में हर्षोल्लास करती हैं और रात में रासलीला का रसपान। गोकुल के स्वच्छंद प्रेम का संसार मध्यकालीन समाज से कोई सरोकार नहीं रखता, यह सदियों से नारी हृदय में दबे भावों का आकांक्षित संसार है।

सूर के नारी पात्र परिश्रमी हैं और उनके श्रम का गोचारण-संस्कृति में महत्त्व है। उनकी स्वतंत्रता और स्वाभिमान का यही प्रमुख कारण है। गोपियां ग्राम समाज की सहजता औरअल्हणता से लोक एवं वेद की छद्‌म नैतिकता एवं मर्यादा को एक साथ तोड़ती हैं। नारी जीवन की यह विडम्बना ही कही जायेगी कि उसका मूल्यांकन कर्म और विवेक के आधार पर कम, चारित्रिक शुद्धता और यौन -शुचिता के आधार पर अधिक होता है। सूर भी पुरुषों की इस मानसिकता से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाये थे। गोपियों और राधा में एकनिष्ठ भाव के आरोपण के मूल में यही मानसिकता हो सकता है। गोपियाँ अगर कृष्ण को भूलकर नये प्रेमी के साथ रास रचातीं तो क्या सूर और भारतीय समाज उन्हें स्वीकार कर पाता? निश्चित रूप से उन्हें पुरुष तो क्या स्त्रियों द्वारा भी इतना मान-सम्मान और आदर नहीं मिलता। जबकि कृष्ण मिलने भी नहीं आते हैं और कई सौ पत्नियाँ रखते हैं फिर भी भारतीय समाज में आदर के पात्र बने रहे। यह एक पक्षीय और पुरुष प्रधान सोच का ही परिणाम है।

जायसी का युग सांस्कृतिक समन्वय और राजनैतिक संघर्ष का था। निर्गुण सन्तों और सूफी साधकों ने वाह्याचार और आडम्बर को धर्म एवं समाज से हटाने का कार्य किया, जिससे समन्वय की प्रक्रिया को गति मिली। जायसी अपने धर्म में आस्था रखते हुये अन्य धर्मों का सम्मान करते हैं, अतः वे सच्चे अर्थों में सेक्यूलर हैं। समतामूलक समाज के स्वप्नद्रष्टा कबीर और प्रेम लोक की दुनियाँ में रमने वाले सूर भी अनेक स्थलों परअन्य सम्प्रदायों पर प्रहार करते हुए मिल जाते हैं। जायसी द्वारा वर्णित समाज में कहीं भी परायापन नहीं है। उनके चित्रांकन का एकमात्र आधार मनुष्यत्व की भाव-भूमि है। जायसी के काव्य में सामंती विलास वैभव से लेकर ग्रामीण समाज के यथार्थ बोध तक का वर्णन है।

जायसी का नामोल्लेख न तो सूफी साधकों की सूची में और न ही तत्कालीन दरबारी ग्रन्थों में मिलता है। अतः जायसी धार्मिक एवं राजनैतिक दोनों प्रकार के दबाओं

से मुक्त थे। उनकी निष्पक्षता और स्वतंत्रता का यही कारण है। पद्मावत में कवि ने दाम्पत्य प्रेम के दु:खद चित्रण के साथ नारी जीवन की त्रासदी को व्यक्त किया है। नारी जीवन की पीड़ा और करूणा से पद्मावत का रूपक अनेक स्थलों पर टूटता है। दुनिया धन्धा के रूप में स्वीकार नागमती के साथ पाठक की सहानुभूति सर्वाधिक जुड़ती है।

नागमती का विरह वर्णन नारी जीवन की करुण त्रासदी है यहाँ पुरुष से प्रताड़ित स्त्री को प्रकृति का सहारा मिलता है। नागमती सारी रात पेड़-पौधे, पशु-पक्षी को अपना दु:खड़ा सुनाती है जिस नागमती के आज्ञा पालन के लिए नौकर दासों की कतार लगी रहती थी, वहीं अब उसकी कोई आवाज सुनने वाला नहीं है-

"फिर-फिर रोब कोइ नहिं डोला। आधी रात विहंगम बोला ॥

तू फिरि फिरि दाहै सब पॉखी । केहि दुख रैनि न लावसि आँखी ॥"[9]

नागमती को प्रकृति का सहयोग एवं साहचर्य दोनों प्राप्त होता है। सूरसागर की गोपियों में प्रकृति के प्रति सहानुभूति का अभाव है। 'मानस' के राम के प्रश्न का उत्तर भी खग मृग नहीं देते हैं। विक्रमोर्वशी में पुरुर्वा के प्रति हंस और कोकिल कोई सहानुभूति नहीं व्यक्त करते। नागमती की पीड़ा से एक पक्षी करुणार्द्र ही नहीं होता बल्कि उसका सन्देशा भी पहुँचाता है। इस सन्देश में दाम्पत्य-प्रेम की दिव्यता एवं पतिव्रत धर्म की पीड़ा एक साथ मार्मिक ढंग से व्यक्त की गयी है-

"अबहूँ मया करु, करु जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देइ मेरा ॥

मोहिं भोग सौं काज न बारी । सौं दीठि कै चाहन हारी ॥

सवति न होहि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ ।

आनि मिलाव एक बेर, तोर पॉय मोर माथ ॥"[10]

मान एवं गर्व से विहीन, दाम्पत्य जीवन का यह निरीह चित्रण है। जायसी जब नारी की करुणा एवं पीड़ा का चित्रांकन करते हैं तो न उसमें फारसी प्रभाव होता है और न ही आध्यात्मिक संकेत। नारी की समस्या और कष्ट चाहे आम जनजीवन का हो या सामंती समाज का वह यथार्थ के धरातल पर ही है। मध्यकालीन भारतीय समाज और सत्ता के गलियारे में एक स्त्री की कितनी औकात होती है, उसे नागमती के माध्यम से जायसी ने प्रस्तुत किया है नारी मन की वृत्तियों, अवशाद और क्लेश के चित्रण में जायसी ग्रामीण समाज को आधार बनाकर चलते हैं।

अवध के ग्रामीण समाज का चित्रण और आदर्श हिन्दू गृहिणी की विरह वाणी होने के कारण बारहमासे का अधिकांश आलोचक प्रशंसा करते हैं। यहाँ पुरुष द्वारा प्रताड़ित असहाय और उपेक्षित नारी का जो चित्र बार-बार उभरता है उसेकम लोग अनुभव करते हैं-

"बंध नाहि औ कंध न कोई। बात न आव कहौं का रोई ?॥

साँठि नाठि जग बात को पूछा? । बिनु जिउ फिरै भूँज तनु छूँछा ॥

भई दुहेली टेक बिहूनी । थाँभ नाहिं उठि सकै न थूनी ॥

बरसे मेह चुवहिं नैनाहा । छपर-छपर होइ रहि बिनु नाहा ॥"[11]

ससुराल और मायके में पति की योग्यता के अनुसार पत्नी के साथ व्यवहार किया जाता है। स्त्री की क्षमता एवं कार्य का मूल्यांकन पति के सम्बन्धों के आधार पर किया जाता है। जायसी के अनुभव का संसार व्यापक है जिसमें स्त्री का पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन भी आ जाता है।

जायसी रत्नसेन के माध्यम से मध्यकालीन समाज के पुरुषों की भोगवादी एवं स्त्री हरण की प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं। पद्मावती विवाह से पूर्व एवं कुछ समय बाद तक रत्नसेन के गुरु के रूप में आती है। कुछ ही देर तक पद्मावती का चरित्र और व्यक्तित्व तसब्बुफ़ की सीमा में रहता है। पूरा जीवन तो वह घरनारी के रूप में ही व्यतीत करती है। अलौकिकता का सारा आवरण हटा कर वह न सिर्फ अपनी सौत से गाली-गलौज करती है, अपितु हाथापायी भी। "पद्मावत" के प्रमुख नारी पात्रों नागमती, पद्मावती, बादल की माँ औरपत्नी सभी का व्यक्तित्व कर्त्तव्यबोध और ओजगुण से युक्त है।

सन्त काव्य में स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व का अभाव है। कबीर की कविता में स्त्री को बारम्बार माया का पर्याय सिद्ध करने का प्रयास मिलता है। मध्यकालीन जनजीवन में सन्यास की प्रवृत्ति बढ़ी तो सामंती समाज में शरीरसुखवादी विचारधारा को संरक्षण मिला। इन दोनों कारणों से नारी की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा। नारी को समाज के एक वर्ग द्वारा उपेक्षा तो दूसरे द्वारा भोग की सामग्री समझा गया। कबीर की स्त्री विषयक अवधारणा एक ओर नाथों-सिद्धों से प्रभावित है तो दूसरी ओर तत्कालीन समाज से। मध्यकालीन समाज में पतिव्रता स्त्री ही आदर्श और श्रेष्ठ मानी जाती थी, कबीर भी इस विचारधारा से पूर्णत: सहमत हैं:-

"नैनाँ अंतरिआव तूँ, ज्यूँ हौं नैन झँपेऊँ ।

नाँ हौं देखौं और कूँ, नाँ तुझ देखन देऊँ ॥"[12]

एक पत्नी की सदा इच्छा रहती है - प्रियदर्शन की और भयभीत रहती है - पति पर परस्त्री की नजर पड़ने से। आध्यात्मिकता का आवरण हटा कर देखा जाय तो कबीर के विरह एवं प्रेममार्गी कवियों के विरह वर्णन में कोई विशेष अन्तर नहीं है। कबीर की

विरहिणी में प्रतीक्षा का अपूर्व धैर्य एवं मिलन की उत्सुकता है। इनका जीवन पारिवारिक के साथ सामाजिक भी था, इसीलिए मिलन के आत्मिक क्षणों में मर्यादा का भय बना रहता है-

"ए अखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो।

खंभ पकरि पतंग अस डोले, बोलै मधुरी बानी।

फूलन सेज बिछाइ जो राख्यौ, पिया बिना कुम्हलानी।

धीरै पाव धरौ पलंगा पर, जागत ननंद जिठानी।

कहत कबीर सुनौ भाई साधो, लोक-लाज बिछलानी।"[13]

मध्यकालीन समाज में पुरुष को बहुपत्नी प्रथा के साथ विभिन्न प्रकार की स्वच्छंदता मिली थी, ऐसे परिवेश में पति को पत्नी के पास जाने की रूचि औरआवश्यकता कम हो जाती है। लज्जा और मर्यादा में डूबी पत्नी को ही अन्ततः सेज पर चलने का अनुरोध करना पड़ता है। कामातुर पत्नी के पाँव एवं हृदय की गति किस प्रकार होती है? ऐसे क्षणों में वाणी में कितनी मधुरता का समावेश हो जाता है? कबीर इन भावों को बड़े ही स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करते हैं। कृषि पर आधारित ग्राम्य-समाज-व्यवस्था की लघुतम इकाई संयुक्त परिवार थे। श्रमिक जातियों में पेशे के अनुसार परिवार छोटे होते थे। कबीर मूलतः भक्त और समाज सुधारक थे, इसलिए आध्यात्मिक सन्दर्भों से जुड़ा स्त्री का पारिवारिक रूप बार-बार सामने आता है। कबीर खुद गृहस्थ थे। उनका अपना परिवार था जिसे चलाने का साथ में अनुभव भी, रिश्ते-नातों की पूरी समझ थी उनके पास। कबीर की रचनाओं में पुरुष से अधिक चित्र नारी का आता है। स्त्री उनके यहाँ अनेक रूपों में आती है- माता, कुलवधू, पतिव्रता से लेकर वेश्या तक। कुलवधू के साथ सास ननद एवं ससुर द्वारा सताये जाने का उल्लेख आता है, तो माता के साथ पुत्र का-

"सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहैं न तेते।।

कर गहि केस करे जौ धाता, तऊ न हेत उतारै माता ॥

कहै कबीर एक बुधि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी॥"[14]

मध्यकालीन समाज में नारी की स्थिति सम्मानित नहीं थी। पति के अतिरिक्त परिवार के बड़ों का कठोर अनुशासन रहता था। पग-पग पर उनके आदेशों को स्वीकार करना उसकी मजबूरी होती थी। गरीब परिवारों में धनोपार्जन के लिए पति को बाहर जाना पड़ता था। ऐसे परिवारों में पति के अनुपस्थित होने पर स्त्री के साथ किस प्रकार का व्यवहार लोगों द्वारा किया जाता है, इसे भी भक्त कबीर के पदों में देखा जा सकता है। "कबीर ग्राम समाज की सभी स्थितियों से गुजरना चाहते हैं । यदि एक ओर कुलवधू के कष्ट को रूपायित किया तो दूसरी ओर उसकी गरिमा और पवित्रता को भी।"[15]

सामंती समाज स्त्री, दासी और वेश्या को एक पंक्ति में खड़ा कर चुका था। इन सबका उपभोग निर्जीव वस्तुओं की तरह किया जाता था। इस व्यवस्था में स्त्री के सिर्फ शरीर का महत्त्व था। कबीर ऐसी ही भोग्या नारी की निन्दा करते हैं जो केवल रमणी है, शरीर है- माँ,पुत्री और पतिव्रता नहीं। कबीर के प्रगतिशील सोच की यही सीमा है । वे वेश्या और कामिनी की निंदा करते हैं,'जार-कर्म' का विरोध करते हैं, मगर इसके कारण और निवारण पर विचार नहीं करते हैं।

मुक्ति की आकांक्षा रखने वाली नारी के साहित्य का आरंभ मुक्तक काव्य से हुआ । प्रारम्भिक स्त्रीवादी लेखिकाओं ने मिथकीय व्यक्तित्वों एवं सांस्कृतिक रूपों के माध्यम से अपने अनुभव, वेदना और प्रतिरोध को व्यक्त किया। ये अपने वैविध्यपूर्ण मनोभावों को भक्ति के धरातल पर खड़ा होकर व्यक्त करती हैं। इनके भाव सिर्फ पद्यात्मक रूप में नहीं व्यक्त

हुए, उनमें कहीं-कहीं वक्तृता, प्रश्नवाचक एवं सम्बोधनपरक शैली का भी प्रयोग हुआ है। एक स्त्री का रचनाकार होना स्वयं में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का निषेध है, उसका अस्वीकार है।

पुरुषवादी समीक्षा दृष्टि से मीरा की कविता का समग्रता में मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। मीरा की कविता सामाजिक राजनैतिक एवं वैचारिक संघर्ष का प्रतीक है। यहाँ मीरा के साथ एक स्त्री की अनुभूति अपने सघनतम् रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। ये कविताएं स्त्री की पारिवारिक एवं सामाजिक अवस्था का बोध कराती हैं । मीरा से पूर्व किसी स्त्री ने प्रेम एवं मनोभावों की अभिव्यक्ति सामाजिक धरातल पर नहीं की थी। मीरा के काव्य में निजी अनुभूतियों को सामाजिक करने के लिए मिथक एवं कहानी का मणिकांचन संयोग किया गया है। इनके यहाँ आत्मकथात्मक अंश एवं वाचिक परंपरा का समन्वय मिलता है-

"अली रे मेरे नैणा बाण पड़ी॥

चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन पड़ी।

कबकी ठाड़ी पंथ निहारुं अपने भवन खड़ी।

कैसे प्राण पिया बिनु राखूं, जीवनमूल जड़ी ।

मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी ॥"[16]

मीरा की कविता में आयी नयी अन्तर्वस्तु का सम्बन्ध व्यापारिक पूँजीवाद एवं तकनीकी आधार पर विकसित शहरी अर्थव्यवस्था से है। इसके कारण परम्परागत, जड़ जीवन शैली में तेजी से परिवर्तन आया था। इन परिस्थितियों में वंशानुगत गुणों एवं अधिकारों के बजाए बौद्धिक गुणों को प्रतिष्ठा मिलना स्वाभाविक था। अब धर्म सिर्फ चंद लोगों की

बपौती नहीं रहा, बल्कि आम जनता की सम्पत्ति बन गया। मीरा अभिजात्य वर्ग से आयी थीं। इसी कारण इस वर्ग की आन्तरिक दुनियाँ से बखूबी वाकिफ थीं। इस वर्ग के प्रति मीरा के हृदय में उपेक्षा एवं घृणा का भाव था और आम जन के प्रति आदरभाव –

"मूरख जण सिंघासण राजा, पंडित फिरताँ द्वाराँ।

मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, राणाँ भगत संघारा ॥"[17]

मीरा भक्तिभाव के साथ लिंगीयभेदभाव एवं सामाजिक वैषम्य को एक साथ चुनौती प्रदान करती हैं। आपने लोकनिंदा, पारिवारिक कटुता का सामना करते हुए पुरुष वर्चस्व को चुनौती दी। औरों की तरह समर्पण नहीं किया। स्त्री को प्रारम्भिक चुनौती परिवार एवं पुरुष से ही मिलती है–

"सास लड़े मेरी ननद खिजावै राणा रहया रिसाय।

पहरो भी राख्यो चौकी बिठारयों, तालो दियो जड़ाय ।"[18]

मीरा का सारा संघर्ष "स्त्री अस्मिता" के स्वतंत्र पहचान के लिए था। पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री की स्वतंत्र पहचान असंभव थी, मीरा ने इस असम्भव को सम्भव बनाया। प्रतिभा पुरुष की हो या स्त्री की उसका सर्जनात्मक विकास संरक्षण में नहीं हो सकता। इसीलिए मीरा अधिनायकवादी संरक्षण चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक उससे आजीवन लड़ती रहीं। मीरा के माधुर्य पूर्ण काव्य का केन्द्रीय विषय रहा है — पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध और गृहिणी जीवन।

मीरा ने गौरी पूजा एवं विवाह का विरोध किया। वे अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखना चाहती थीं। हमारी समाजव्यवस्था में स्त्री को किसी का होकर रहना पड़ता है– वह

माँ होकर रहे, दासी या पत्नी । वर्णाश्रमधर्मी समाज व्यवस्था का विरोध करते समय उन्हें प्रतिपक्षी की सबलता का भी ज्ञान रहता था, तभी तो कृष्ण की पुकार लोकरंजन नहीं, लोकरक्षक रूप में करती हैं। "गिरिधर नागर" सम्बोधन अकारण नहीं था।

भक्ति काव्य का मूलाधार मध्यकाल का सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन रहा है। सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्णव्यवस्था थी जिसमें स्त्री उपेक्षित थी और सामंती समाज में उसका शारीरिक शोषण होता था। माँ के रूप में स्त्री को आदर मिलता था, तो पत्नी के रूप में दासी की तरह गुलामी का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उम्र के अनुसार उसके संरक्षक बदलते रहते थे। अनेक कुप्रथाओं का उसे सामना करना पड़ता था। मध्ययुग में स्त्री के जितने स्वरूप थे, उसकी जो स्थितियाँ थी सबको भक्तिकाव्य में यथोचित स्थान मिला है।

सन्दर्भ सूची

1. चन्द्रदेव राय – "अभिनव कदम"

   पृष्ठ सं0 – 93

   अंक – नवम्बर 1999– अक्टूबर 2000

   मंथन, मऊनाथ भंजन, मऊ

2. विश्वनाथ त्रिपाठी – "मीरा का काव्य"

   पृष्ठ सं– 41

   द्वितीय संस्करण – 1998

   वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

3. पृष्ठ सं0 – 20

   शेष (2)

4. श्यामसुन्दरदास – "कबीर ग्रन्थावली"

   पृष्ठ सं0 – 73

   संस्करण – 2032 वि0

   नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

5. गो0 तुलसीदास – "रामचरितमानस"

पृष्ठ सं0– 168

37वां संस्करण – सं0 2048

गीता प्रेस गोरखपुर

6. गो0 तुलसीदास– "रामचरितमानस"

पृष्ठ – 550

शेष वहीं

7. डा0 धीरेन्द्रवर्मा – "सूरसागर सार सटीक"

पृष्ठ – 362

संस्करण – 2002

साहित्य भवन प्रा0 लि0, जीरोरोड, इलाहाबाद

8. डा0 धीरेन्द्र वर्मा –"सूरसागरसार सटीक"

पृष्ठ सं0– 308

शेष वही

9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल –"त्रिवेणी"

पृष्ठ सं0– 23

संस्करण – स0 2043 वि0

नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

10. गोविन्द त्रिगुणायत–"जायसी का पद्मावत्: शास्त्रीय भाष्य"

पृष्ठ सं0– 479

संस्करण – 1969

यस0 चंद एंड कम्पनी, नई दिल्ली

11. गोविन्द त्रिगुणायत– "जायसी का पद्मावत: शास्त्रीय भाष्य"

पृ0 – 468

संस्करण – 1969

यस0 चंद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

12. डा0 श्यामसुन्दरदास –"कबीर ग्रन्थावली"

पृष्ठ सं0– 14, संस्करण – 2032 वि0

नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

13. डा0 चौथीराम यादव– "मध्यकालीन काव्य में विरहानुभूति की अभिव्यंजना"

पृष्ठ सं0– 112

संस्करण – 1974

रचना प्रकाशन, खुल्दाबाद, इलाहाबाद

14. श्यामसुन्दर दास – "कबीर ग्रन्थावली"

पृष्ठ – 94

संस्करण – सं0 2032 वि0

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

15. डा0 लक्ष्मीचंद –"कबीर और जायसी : ग्राम्य-संस्कृति"

पृष्ठ सं0– 46

संस्करण – 1988

प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली

16. वियोगी हरि – "मीरा के सुबोध पद"

पृष्ठ सं0– 15

संस्करण 2001

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली

17. परशुराम चतुर्वेदी – "मीराँबाई की पदावली"

पृष्ठ सं0– 155

19वां संस्करण – 1993

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सहायक पुस्तकों की सूची

1. 'प्राचीन भारत, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल' – डॉ0 एन0 झा

2. 'अद्भुत भारत' – ए0 एल0 बाशम

   संशोधित हिन्दी संस्करण

   शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

3. 'भारत का इतिहास' – रोमिला थापर

   संस्करण – 1983

   राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

4. 'प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास' – रामशरण शर्मा

   संस्करण – 1993

   हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

5. ''मध्यकालीन भारत : सल्तनत से मुगलों तक'' – सतीश चन्द्रा

   संस्करण – 2000

   जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली

6. ''स्त्रियों की पराधीनता'' - जान स्टुवर्ट मिल

अनुवादक - प्रगति सक्सेना

संस्करण - 2002

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

7. ''भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास'' - चोपड़ा, दास, पुरी

संस्करण - 1996

मैकमिलन इंडिया लिमिटेड,नई दिल्ली

8. ''मध्यकालीन भारत का इतिहास''- शिवकुमार गुप्त

संस्करण - 1999

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

9. ''मध्यकालीन भारत (750 - 1540 ई0)''- हरिश्चन्द्र वर्मा

संस्करण - 1997

हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय , नई दिल्ली

10. "मीरा का काव्य"- विश्वनाथ त्रिपाठी

द्वितीय संस्करण - 1998

वाणी प्रकाशन दरियागंज ,नई दिल्ली

11. ''मुगलकालीन भारत''- लईक अहमद

संस्करण – 2002

प्रयाग पुस्तक भवन, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद

12. ''जायसी ग्रन्थावली''- राजेश्वर चतुर्वेदी और गंगा सहाय

संस्करण – 1992

गोयल बुक डिपो, आगरा

13. ''जायसी का पद्मावत्: शास्त्रीय भाष्य'' – गोविन्द त्रिगुणायत

संस्करण – 1969

यस0 चंद एण्ड कम्पनी, नयी दिल्ली

14. ''भक्तिकाव्य का समाजदर्शन'' – प्रेम शंकर

संस्करण – 2000

वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली

15. ''कबीर ग्रन्थावली''- श्याम सुन्दरदास

संस्करण – सं0 2032 वि0

नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

16. "कबीर और जायसी": ग्राम्य संस्कृति" – डा0 लक्ष्मीचंद

संस्करण – 1988

प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली

17. "तुलसी प्रतिभा"– इन्द्रनाथ मदान

संस्करण – 1971

लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

18. रामचरित मानस – गो0 तुलसीदास

संस्करण – 37वां

गीताप्रेस, गोरखपुर

19. "तुलसी साहित्य: बदलते प्रतिमान"– डा0 चन्द्रभान रावत

संस्करण – 1971

जवाहर भवन, मथुरा

20. "सूरसागर सटीक" – धीरेन्द्र वर्मा

संस्करण – 2002

साहित्य भवन प्रा0 लि0, जीरो रोड, इलाहाबाद

21. ''हिन्दू समाज के पथभ्रष्टक तुलसीदास''- विश्वनाथ

प्रथम संस्करण

विश्व विजय प्राइवेट लि0, कनाट सरकस, नई दिल्ली

22. "कवितावली"- गो0 तुलसीदास

38वां संस्करण

गीता प्रेस, गोरखपुर

23. ''भक्तिकालीन राम एवं कृष्ण काव्य की नारी भावना''

श्याम बाला गोयल

संस्करण - 1976

विभू प्रकाशन, शाहिबाबाद

24. ''सूर साहित्य सन्दर्भ'' - डा0 रामस्वरूप आर्य एवं डा0 गिरिजा शरण अग्रवाल

सूर पंचशती समारोह समिति, बिजनौर, उ0 प्र0

24. "सूर साहित्य"- डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी

संस्करण - 1989

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

25. ''भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य''- मैनेजर पाण्डेय

संस्करण - 2001

वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली

26. ''सूर की काव्य चेतना'' - बलराम तिवारी

संस्करण - 1999

अभिव्यक्ति प्रकाशन, गोविन्दपुर, इलाहाबाद

27. भक्ति आन्दोलन एवं भक्तिकाव्य - शिव कुमार मिश्र

संस्करण - 1996

अभिव्यक्ति प्रकाशन विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद

28. ''त्रिवेणी'' - रामचन्द्र शुक्ल

संस्करण सं0 - 2043 वि0

नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

29. ''जायसी'' - विजय देव नारायण साही

संस्करण - 1993

हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

30. ''मीराबाई की पदावली'' - परशुराम चतुर्वेदी

संस्करण - 1993

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

31. ''कबीर का स्त्री-दृष्टिकोण'' - सेवा सिंह

संस्करण - 1997

निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली

32. ''कबीर मीमांसा'' - रामचन्द्र तिवारी

संस्करण - 1995

लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

33. ''कबीर'' - डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी

संस्करण - 1998

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

34. ''कबीर ग्रन्थावली''- माता प्रसाद गुप्त

संस्करण - 1992

साहित्य भवन, प्रा0 लि0 जीरो रोड, इलाहाबाद

35. "मध्यकालीन काव्य में विरहानुभूति की अभिव्यंजना" - डा0 चौथीराम यादव

प्रथम संस्करण - 1974

रचना प्रकाशन खुल्दाबाद इलाहाबाद

36. "कबीर साखी सुधा"- डा0 वासुदेव सिंह

संस्करण - 1996

अभिव्यक्ति प्रकाशन, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद

37. "कबीर के सबद" - डा0 शुकदेव सिह

संस्करण - 2000

अभिव्यक्ति प्रकाशन, गोविन्दपुर, इलाहाबाद

38. "मीराबाई के सुबोध पद"- वियोगी हरि

संस्करण - 2001

सस्ता साहित्य मंडल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

39. "हिन्दी साहित्य का इतिहास" - आ0 रामचन्द्र शुक्ल

संस्करण सं0- 1999

नागरीप्रचारिणीसभा, काशी

40. "हिन्दी साहित्य की भूमिका"- डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी

संस्करण - 1991

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

41. "हिन्दी साहित्य और संवेदनाका विकास" - रामस्वरूप चतुर्वेदी

संस्करण - 1998

लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद

42. "साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका"

संस्करण - 2001

हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला

पत्र एवं पत्रिका

43. "अभिनव कदम" - चन्द्रदेव राय

अंक - नवम्बर 1999- अक्टूबर 2000

मंथन, मऊ

44. "राष्ट्रीय सहारा," लखनऊ संस्करण

24 नवम्बर 2001

45. "राष्ट्रीय सहारा," लखनऊ संस्करण

22 अगस्त , 1998

46. "हिन्दुस्तान," लखनऊ संस्करण

9 मार्च 2001

46. "हंस" – राजेन्द्र यादव

अंक – दिसम्बर 2001

47. रियल्टी एण्ड रियलिज्म : इंडियन ओमेन इज प्रोटेगोनिष्ट इन फोर 19वां सेन्चुरी नावेल्स, इकोनामिक एण्ड पोलिटकली वीकली Vol. - XIX No. 2, 1984.